उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत
उठो जागो और लक्ष्य प्राप्त किये बिना विश्राम मत लो

विवेक शिखा

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा की एकमात्र हिन्दी मासिकी

वर्ष—१२ | १९९३—अप्रैल | अंक—४

इष्टदेव का हृदय-कमल में रूप अनूप दिखा। निजानन्द में रखती अविचल विमल 'विवेक शिखा'॥

सम्पादक :
डॉ० केदारनाथ लाभ

सहायक सम्पादक
शिशिर कुमार मल्लिक

सम्पादकीय कार्यालय :
रामकृष्ण निलयम्
जयप्रकाश नगर,
छपरा—८४१३०१
(बिहार)
फोन : ०६१५२-४२६३९

सहयोग राशि

आजीवन सदस्य—	५०० रु०
वार्षिक—	३० रु०
रजिस्टर्ड डाक से—	४५ रु०
एक प्रति—	४ रु०

रचनाएँ एवं सहयोग-राशि संपादकीय कार्यालय के पते पर ही भेजने की कृपा करें।

श्रीरामकृष्ण ने कहा है

(१)

ऐसे (साक्षात्कारी) गुरु यदि पण्डित या शास्त्रज्ञ न भी हों तो घबराने का कोई कारण नहीं। उन्होंने पुस्तकी विद्या भले न सीखी हो पर उनमें यथार्थ ज्ञान की कमी नहीं होती। पुस्तक पढ़कर भला क्या ज्ञान होगा? ऐसे व्यक्ति के निकट ईश्वरीय ज्ञान का अनन्त भण्डार होता है।

(२)

यदि राजा से मिलना हो तो उसके महल में जाकर सातों ड्योढ़ियों को पार करना होगा। परन्तु यदि पहली ही ड्योढ़ी पार करके कोई कहे, "राजा कहाँ है?" तो कैसे होगा! सातों ड्योढ़ियों को पार करने के बाद ही न राजा दिखाई देंगे।

(३)

जिस प्रकार एक ही जल को कोई 'वारि' कहता है और कोई 'पानी', कोई 'वाटर' कहता है तो कोई 'एक्वा', उसी प्रकार एक ही सच्चिदानन्द को देशभेद के अनुसार कोई 'हरि' कहता है तो कोई 'अल्लाह', कोई 'गॉड' कहता है तो कोई 'ब्रह्म'।

(४)

ईश्वर के अनन्त नाम और अनन्त रूप हैं। जिस नाम और जिस रूप में तुम्हारी रुचि हो उसी नाम से और उसी रूप में तुम उन्हें पुकारो, तुम्हें उनके दर्शन मिलेंगे।

श्रीरामनवमी : १ अप्रैल

श्रीरामचन्द्र प्रणामः

आपदामपहर्तारं दातारं सर्वसम्पदाम् ।
लोकाभिरामं श्रीरामं भूयो भूयो नमाम्यहम् ॥

रामाय रामचन्द्राय रामभद्राय वेधसे ।
रघुनाथाय नाथाय सीतायाः पतये नमः ॥

नान्या स्पृहा रघुपतेहृदयेऽस्मदीये ।
सत्यं वदामि च भवानखिलान्तरात्मा ।
भक्तिं प्रयच्छ रघुपुंगव निर्भरां मे
कामादि दोषरहितं कुरु मानसं च ॥

भावार्थ—समस्त विपत्तियों को हरनेवाले, समस्त ऐश्वर्यों को प्रदान करनेवाले, लोकरंजक श्रीरामचन्द्र को मैं बारम्बार प्रणाम करता हूँ ।

सर्वज्ञ, जगन्नाथ, सीतापति, रघुनाथ, रामभद्र, रामचन्द्र राम को मैं प्रणाम करता हूँ ।

हे रघुनाथ, आप सबके अन्तरात्मा-स्वरूप हैं; सच कहता हूँ, मेरे हृदय में दूसरी कोई काम नहीं है । हे रघुश्रेष्ठ, मुझे ऐकान्तिक भक्ति प्रदान कीजिए और मेरे मन को काम आदि दोषों से शू कीजिए ।

आत्मचैतन्य का जागरण

श्रीमत् स्वामी रंगनाथानन्दजी महाराज
परम उपाध्यक्ष, रामकृष्ण मठ एवं मिशन
अनुवादक : डॉ० केदारनाथ लाभ

(३ जुलाई १९९०, कृष्ण नगर रामकृष्ण आश्रम में प्रदत्त भाषण का बंगला पत्रिका 'उद्बोधन' के जनवरी, १९९२ अंक से साभार अनूदित—सं०)

धर्म की मूल बात है हमलोगों में अन्तर्निहित आत्मचैतन्य का जागरण। 'कल्पतरु दिवस' को श्रीरामकृष्ण ने आशीर्वाद दिया—"तुमलोगों की चैतन्य हो।" स्वामी विवेकानन्द ने आजीवन कहा—'प्रत्येक व्यक्ति का अन्तर्निहित ब्रह्म जागे।' किसी नये धर्म का प्रचार अथवा नये सम्प्रदाय की सृष्टि करने के लिए श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द नहीं आये थे। हमलोगों के भीतर के चैतन्य को जाग्रत करने के लिए ही उनलोगों का आविर्भाव हुआ था।

अपने हृदय में भगवान् की उपलब्धि—आत्म-चैतन्य का जागरण या आध्यात्मिक विकास सभी धर्मों का मूल उद्देश्य है। किन्तु इसके बावजूद सभी धर्मों में आहार-विहार के सम्बन्ध में विधि-निषेध का ही प्रसार है। रामकृष्ण-विवेकानन्द ने इन सब विषयों पर विशेष कुछ नहीं कहा। एक शब्द में शुद्ध-सत्व जीवन-यापन की बात ही उन दोनों ने बार-बार कही है।

शुद्ध सत्व जीवन-यापन करते-करते हृदय में क्रमशः आध्यात्मिकता का विकास होगा। विकास का अर्थ यह है कि शक्ति मेरे भीतर ही है, किन्तु उस पर एक आवरण पड़ा हुआ है, वह आवृत हो गयी है। उसी शक्ति को धीरे-धीरे विकसित करना होगा, प्रकाशित करना होगा। हमलोग देखते हैं कि एक शिशु के जीवन में धीरे-धीरे उसके व्यक्तित्व का विकास होता है। पशु-पक्षियों को शारीरिक व्यक्तित्व है किन्तु आत्मिक व्यक्तित्व नहीं है। नवजात शिशु की भी वैसी ही स्थिति है। एक-दो वर्षों की उम्र होने पर उसका आत्मिक विकास होने लगता है। इस आत्मिक विकास का प्राथमिक अर्थ है—'अहं' ज्ञान या 'मैं' पन का बोध। छोटा शिशु पहले बोलता है—'यह चाहिए, वह चाहिए।' किन्तु कुछ दिनों के बाद वह बोलना शुरू करता है—'मैं चाहता हूँ, मुझे दो।' इस मैंपन का बोध ही आत्मिक व्यक्तित्व है। इस व्यक्तित्व के जागरण के साथ-साथ ही उसके भीतर एक स्वतंत्र शक्ति जागृत होती है। आध्यात्मिक अहं बोध इसी की चरम सीमा है। मनुष्य का क्षुद्र 'मैं' कितना विशाल और कितना महान हो सकता है, इस बात को एकमात्र भारत-वर्ष ने ही विश्व को सुनाया है। महापुरुषों की परम्परा से अथवा वेद-उपनिषद् आदि में इस 'मैं' या इस अन्तर्निहित चैतन्य की जो बात सुनी जाती है, उस चैतन्य का जागरण ही जीवन का एकमात्र उद्देश्य है, इस तथ्य का स्मरण कराने के लिए ही इस युग में श्रीरामकृष्ण एवं स्वामीजी अवतरित हुए थे। इस क्षुद्र लघु 'मैं' को—उन लोगों की भाषा में 'कच्चा मैं' को—'पक्का मैं' करना होगा।

४

स्वामीजी कहते हैं, हमलोगों के भीतर अनन्त शक्ति है। शारीरिक और मानसिक शक्ति—बुद्धि-मेधा-स्मृति-धृति—ये सब उसी शक्ति के विभिन्न प्रकाश हैं। आधार और प्रयास के अनुसार भिन्न-भिन्न व्यक्ति में उस शक्ति का भिन्न-भिन्न प्रकार का प्रकाश है। किन्तु समस्त शक्तियों का केन्द्र है आत्मशक्ति। इस आत्मशक्ति या आत्म चैतन्य के नहीं रहने पर कोई भी शक्ति अन्त तक फलदायक नहीं होती। अतएव इस आत्मशक्ति को विकसित करना होगा। उसके विकास के लिए आध्यात्म विद्या की आवश्यकता है। इस आध्यात्म विद्या का अनुशीलन ही धर्म-विज्ञान है। छुआछूत, आचार-विचार, विधि-निषेध—ये सब धर्म नहीं हैं। उपनिषद् में विद्या के दो प्रकार हैं। वहाँ कहा गया है—'द्वे विद्ये वेदितव्ये।" एक है परा विद्या और दूसरी है अपरा विद्या। अपरा विद्या सांसारिक कल्याण—ऐहिक सुख-समृद्धि के लिए है। उसके प्रयोजन को ऋषियों ने नकारा नहीं। किन्तु परा या श्रेष्ठ विद्या है—"यया यत् अक्षरमधिगम्यते", जिसके द्वारा इस अक्षर अर्थात् अविनाशी पुरुष को जाना जाता है। 'अक्षर' हैं वही विभुचैतन्य—जो अणु रूप में प्रत्येक जीव के शरीर में विराजित हैं। उनके स्वरूप को जानने के लिए ही परा विद्या का प्रयोजन है, उनके स्वरूप का ज्ञान ही धर्म का चूड़ान्त लक्ष्य है।

स्वामी विवेकानन्द के संदर्भ में हमलोग देखते हैं कि श्रीरामकृष्ण के निकट आने से पहले वे अपरा विद्या में पारंगत हो गये थे, किन्तु इससे उनका हृदय तृप्त नहीं हुआ। इसके बाद श्रीरामकृष्ण के पदप्रान्त में पाँच वर्षों तक उन्होंने परा विद्या की साधना की। किन्तु उस साधना में सफल होकर उन्होंने अपरा विद्या के महत्व को कम नहीं किया। उन्होंने दोनों साधनाओं के माध्यम से उपनिषद् की उस वाणी के सत्य का ही प्रचार किया—"द्वे विद्ये वेदितव्ये।" प्रकृति विज्ञान या भौतिक विज्ञान तथा अध्यात्म विज्ञान—मनुष्य के समग्रगत विकास के लिए दोनों की ही आवश्यकता है—स्वामीजी के जीवन से यही प्रमाणित होता है। तथापि अध्यात्म विद्या से ही सभी विद्याओं की प्रतिष्ठा एवं सार्थकता है।

धर्म मार्ग में हमलोगों ने प्रगति की है या नहीं, इसका क्या प्रमाण है? एक बच्चे का वजन संभवतः सात पाउण्ड होगा। उसे प्रचुर मात्रा में अच्छे-अच्छे पदार्थ खिलाने पर भी यदि सात महीने के बाद देखते हैं कि उसका वजन वही सात पाउण्ड ही है तो समझना होगा कि उसका शारीरिक विकास नहीं हुआ है। इसी भांति ठाकुर घर में पूजा-आरती करने, नियमित रूप से समय पर जप आदि करने पर भी, यदि देखा जाय कि हृदय उदार नहीं हुआ है—मन में उसी प्रकार हिंसा, द्वेष, अभिमान है, सबके प्रति सहानुभूति या प्रेम का भाव नहीं जाग्रत हुआ है, तब समझना होगा कि धर्म-पथ पर थोड़ी भी प्रगति नहीं हुई है। आत्मचैतन्य का विकास हृदय में जितना ही होगा उतना ही इस 'कच्चा मैं' का भाव दूर होगा। 'कच्चा मैं' के माध्यम से श्रीरामकृष्ण 'अहं' भाव की बात, क्षुद्र सीमा में आबद्ध 'मैं' की बात कहते हैं। यह 'मैं' केवल अपने स्वार्थ की बात समझता है। 'पक्का मैं' के द्वारा वे कहते हैं, सब के भीतर जो एक ही चैतन्य विराजमान है उसकी उपलब्धि के लिए जो प्रेरणा दे। 'पक्का मैं' के विकास से मनुष्य सबसे प्रेम करता है—सबकी सेवा करता है। जो सब में 'एक' को ही देखता है वह शोक मोह से विमुक्त होता है। इस तरह विचार कर साधन पथ में आगे बढ़ना पड़ता है।

केवल साधना के समय ही नहीं—घर में छोटे शिशु को शिक्षा देने के समय से ही इस 'पक्का मैं' के विकास की ओर लक्ष्य रखना होगा। अक्सर

देखा जाता है कि एक ही घर के दो लड़कों में एक लड़का खाने की कोई वस्तु पाने पर अकेला ही खा लेता है और दूसरा लड़का उस सामान्य वस्तु को ही सबके साथ बाँटकर खाता है। पहले लड़के का 'मैं' कच्चा है और दूसरे लड़के का 'मैं' विकसित हो गया है। इसी समय माता-पिता के द्वारा बच्चे के इस 'मैं' पन के विकास में सहायता करनी चाहिए वही होगा धर्म का प्रथम सोपान।

बर्ट्रेण्ड रसल कहते हैं, समाज में अधिकांश लोग बिलियर्ड के गेंद की तरह मात्र एक दूसर को धकियाते हुए चलते हैं। यह धक्का-मुक्की या झगड़ा-झांटी 'कच्चा मैं' का प्रकाश है। इस 'कच्चा मैं' को पक्का कर शान्त भाव से एक-दूसरे के प्रति सौहार्द्र लेकर चलने का प्रयोजन है अन्तर के सेवा-भाव को जगाना। इस सेवा के भाव से ही प्रेम का संचार होगा। और जिसके हृदय में प्रेम का संचार हुआ है वह तो धर्म-पथ पर कई सीढ़ियाँ पार कर चुका है। इस प्रकार ही होगा पक्का मैं का विकास—आत्म चैतन्य का स्फुरण।

व्यक्तित्व के विकास का स्तर है। शैशवावस्था में प्रथम विकास शारीरिक स्तर पर होता है। तदुपरान्त क्रमशः अहं का प्रकाश होता है। धीरे-धीरे मानसिक शक्ति का विकास होता है। क्रमशः सामाजिक व्यक्तित्व का प्रस्फुटन होता है। यहीं से सेवा भाव का एक साथ मिलजुलकर कार्य करने का प्रयास शुरू होता है। अँग्रेजी में बड़े सुन्दर ढंग से कहा गया है—Individuality growing into personality." मेरा अहं इतने दिनों तक मुझ में ही सीमित था—मेरा सुख, मेरा दुःख, मेरा यह, मेरा वह। हर समय 'मेरा मेरा'। अब मैं दूसरे को स्वीकार करता हूँ—तुम्हारे आनंद तुम्हारे दुःख—वेदना के अश मैं बाँट लेना चाहता हूँ। विश्वमानव के प्रति इस बोध के जगने पर ही होगा आध्यात्मिक विकास। स्वामीजी ने कहा है—"Expansion is life and Contraction is death"—विकास ही जीवन है और संकोच ही मृत्यु। हमलोग स्वयं को जितना ही संकुचित कर रखेंगे उतना ही हमलोग आत्महत्या के पथ पर अग्रसर होंगे। इसलिए हमें स्वयं को शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक—सभी दिशाओं में विकसित कर लेना होगा। इस विकास, इस आत्मज्ञान का स्फुरण छोटे-छोटे कार्यों के द्वारा ही होगा। यही विकास हमलोगों को पशु से पृथक कर हमारी शक्ति को बढ़ावा देता है। किन्तु स्मरण रखना होगा कि यह मात्र शुरुआत है—छोटे बच्चे को क्रमशः व्यक्तित्व विकास के पथ पर आगे ले जाना होगा, किस प्रकार 'क्षुद्र मैं,' 'कच्चा मैं' को 'पक्का मैं' में परिणत करना होगा इसका संकेत उसके समक्ष करना होगा। इसके उपरान्त लम्बे पथ पर वह स्वयं ही चलेगा। यहाँ उसकी सहायता करेगी अध्यात्म विद्या—वेद वेदान्त की दिव्यवाणी, जो भारत की एकान्त सम्पदा है। शिल्प-साहित्य-विज्ञान इत्यादि में चरमोत्कर्ष प्राप्त करना, नोवेल पुरस्कार पाना—सभी निरर्थक हो जाते हैं यदि इस मानव जीवन में 'पक्का मैं' विकसित नहीं होता है, आत्मचैतन्य का स्फुरण नहीं होता है, आत्म-स्वरूप की उपलब्धि नहीं होती है।

समुद्र मंथन के समय शिव के द्वारा विषपान की कहानी पुराण में कही गयी है। यह विषपान कर नीलकण्ठ होने का तात्पर्य क्या है? शिव विष को पचा लेते हैं। तुम्हारे मस्तक में सहस्रार पर वही शिव विराज रहे हैं। उनका ध्यान कर उनके साथ एकात्म होने पर तुम भी उस विष को पचाने की शक्ति प्राप्त करोगे। हमलोगों के जीवन में इस समुद्र मंथन का क्या अर्थ है? जीवन रूपी समुद्र में नित्य सुख-दुःख, अमृत-विष रूपी कितने ही ज्वार उठते हैं। दोनों को सहज भाव से ग्रहण करने की शक्ति चाहिए। विष को या

दुःख को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है—किन्तु वह जिससे हमलोगों को अभिभूत नहीं कर सके, कण्ठ के नीचे नहीं उतर सके। यही है आध्यात्मिक विकास। तुम्हारे भीतर अनन्त शक्ति सम्पन्न आत्मा विराजमान है। उन्हें जानने पर अनन्त का भाव जगेगा—सारे क्षुद्र भाव हृदय से दूर हो जाएँगे।

जब तक हमलोग केवल अपने को लेकर, अपने देहसुख को लेकर आबद्ध रहते हैं, तब तक हम लोगों के हृदय में क्षुद्रभाव का निवास रहता है। जब हमलोग अपने को लेकर व्यस्त नहीं रहते हैं तभी हृदय में महान भाव का संचार होता है। सब को सुख के साधन प्रदान करने के लिए, सब की सेवा करने के लिए मन तब व्याकुल होता है। केवल स्वयं वह या उसका परिवार या प्रियजन ही नहीं—समग्र वसुधा ही तब उसका कुटुम्ब हो जाती है। एक गृहस्थ जब तक अपने गृह की सीमा में आबद्ध रहता है तब तक वह गृह कारागार स्वरूप रहता है। कारागार को भेदकर जगत् के कल्याण के लिए आत्म-नियोजित करना ही गृहस्थ का सनातन धर्म है। इस शरीर में आबद्ध रहकर ही मुक्त होने, घर में वास करते हुए ही सर्वत्यागी संन्यासी होने की बात भारतवर्ष ने ही एक बार कही थी। हमलोगों के पुराण, साहित्य, इतिहास, शिल्प में इसके अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं।

आध्यात्मिक विकास या धर्म संसार त्याग के बिना नहीं होगा—ऐसा नहीं है। ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ, संन्यास—इन चारों आश्रमों को ही भारतवर्ष ने समानभाव से मर्यादा प्रदान की है। इन में गार्हस्थ्य धर्म का दायित्व सबसे अधिक है। कारण, अन्य तीनों आश्रमों का आश्रय स्थल गार्हस्थ्य ही है। गुरु गृह में ब्रह्मचारीगण गृहस्थों के पृष्ठपोषण से ही अध्ययन करते हैं। वानप्रस्थियों तथा संन्यासियों की मधुकरी या जीवन निर्वाह करने का भार गृहस्थों के ऊपर ही रहताहै।

किसी देश की आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक हर प्रकार की उन्नति गृहस्थों के ऊपर ही निर्भर करती है। अतएव, गृहस्थ यदि संकीर्ण क्षुद्र सीमा में अपने को आबद्ध कर रखे तो वह स्वधर्म से भ्रष्ट होगा। उसे उदार होना होगा। यही उसका आध्यात्मिक विकास है। आज भारतीय गृहस्थों के एक बहुत बड़े भाग में धर्म की यह बात विस्मृत हो जाने के कारण ही समाज में इस प्रकार की विशृंखलता दिखाई देती है। आदर्श गृही और आदर्श संन्यासी में कौन बड़ा है—यह विचार करना मूर्खता है। स्वामीजी ने कहा है, दोनों में प्रत्येक ही अपने क्षेत्र में बड़ा है। श्रीरामकृष्ण के अन्तरंग गृहस्थ पार्षदों ने प्रमाणित कर दिया है कि गृहस्थ भी कितनी ऊँचाई तक उठ सकते हैं। उन सब गृहस्थ भक्तों के द्वारा आचरित धर्म ही इस युग का आदर्श है। घर में रहकर भी आत्मचैतन्य का विकास किस सीमा तक हो सकता है—इसे वे लोग अपने जीवन में दिखा गये हैं।

श्रीरामकृष्ण, श्री श्री माँ एवं स्वामीजी हमलोगों को सिखा गये हैं—व्यक्ति के रूप में सुन्दर होना होगा, व्यक्ति जीवन का मान उन्नत करना होगा।

'लीला प्रसंग' और 'वचनामृत' श्री सारदा देवी की वाणी और विवेकानन्द साहित्य का अध्ययन करने पर हम देखेंगे कि आदर्श नागरिक में जिन गुणों का रहना उचित है वे सारी शिक्षाएँ हमलोग उनके जीवन और उपदेशों में पाते हैं। उन सब ने कहा है—अपनी स्वार्थ-सिद्धि की बात सोचना अधर्म है, दूसरों की बात सोचना धर्म है। इन सारे उपदेशों का मनन और आचरण ही हमलोगों को उदार करने और हमलोगों के

आध्यात्मिक विकास में सहायक हो सकते हैं। श्रीरामकृष्ण, श्री माँ एवं स्वामीजी किसी विशेष धर्म का प्रचार करने नहीं आये थे—सनातन मानव धर्म की बात ही उनलोगों ने कही है, जिस धर्म का आचरण करने पर मनुष्य 'मान हूँश' होगा। उन लोगों ने 'सोलह आना' किया था। हमलोगों के द्वारा 'एक आना' कर पाने पर ही अभीष्ट की प्राप्ति होगी। गीता में भगवान् ने कहा है, "स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य, त्रायते महतो भयात्। अतएव, इस आध्यात्मिक विकास के लिए हमलोगों को तब तक चेष्टा करनी होगी जब तक लक्ष्य तक हम नहीं पहुँच जाते। वह लक्ष्य है अणुचैतन्य का विभुचैतन्य में प्रसारण। एक ही आत्मा सर्वभूतों में है, यह जानकर सब के प्रति प्रेम और सेवा का भाव लेकर रहना—यही है प्रकृत धर्म। इस धर्म-लाभ के लिए तत्पर होना होगा। उपनिषद् कहती हैं—"उत्तिष्ठ जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत।" स्वामीजी कहते हैं—"Arise, awake and stop not till the goal is reached."—उठो जागो और लक्ष्य प्राप्त होने तक रुको नहीं।

स्थापकाय च धर्मस्य

स्वामी ब्रह्मेशानन्द
रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, वाराणसी

एक बार श्रीरामकृष्ण के अन्यतम गृहस्थ भक्त एवं बंगाल के प्रसिद्ध नाटककार गिरीशचन्द्र घोष ने स्वामी विवेकानन्द से श्रीरामकृष्ण की एक जीवनी लिखने को कहा, क्योंकि स्वामीजी से अधिक अच्छी तरह श्रीरामकृष्ण को भला और किसने समझा होगा? इस पर स्वामीजी ने अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए कहा कि उन्होंने भला श्रीरामकृष्ण को कहाँ समझा है—वे तो अत्यन्त महान् थे, कहीं ऐसा न हो कि शिवकी मूर्ति गढ़ने के प्रयास में वे एक बन्दर की मूर्ति गढ़ दें। यह तो श्रीरामकृष्ण की महानता को व्यक्त करने की स्वामीजी की अपनी एक शैली थी। सत्य तो यही है कि श्रीरामकृष्ण को स्वामी विवेकानन्द ने जैसा समझा था वैसा और किसी ने नहीं समझा। वस्तुतः स्वामी विवेकानन्द का समस्त साहित्य,—उनके व्याख्यान, वार्तालाप लेखादि समस्त रचनाएँ श्रीरामकृष्ण के जीवन व आदर्शों पर भाष्य ही हैं। स्वामीजी ने श्रीरामकृष्ण के सम्बन्ध में बहुत कम प्रवचन दिये या लेख लिखे हैं। हाँ, कुछ स्तोत्र भी उन्होंने श्रीरामकृष्ण की स्तुति में बनाये हैं, और ये कुछ रचनाएँ ही स्वामीजी की श्रीरामकृष्ण के प्रति मान्यता तथा उनकी महानता प्रकट करने के लिए पर्याप्त हैं। स्वामीजी रचित श्रीरामकृष्ण का प्रणाम मंत्र भी इसी तरह का एक अत्यन्त सरगर्भित श्लोक है :

स्थापकाय च धर्मस्य सर्वधर्म-स्वरूपिणे।
अवतार-वरिष्ठाय रामकृष्णाय ते नमः॥

धर्म का अर्थ

सर्व प्रथम स्वामीजी श्रीरामकृष्ण को "धर्मस्य स्थापक" कह कर संबोधित करते हैं। धर्म किसे कहते हैं? धर्म शब्द से अलग-अलग लोग अलग-

अलग अर्थ लेते हैं। वैसे धर्म की युक्ति युक्त १०-१२ परिभाषाएँ हो सकती हैं। धर्म के पर्यायवाची अंग्रेजी शब्द Religion का शब्द कोष में अर्थ इस प्रकार दिया गया है: A system of faith, specially in a super human controlling power; its effect upon individual and society. अर्थात् एक अतिमानव नियामक ईश्वर में विश्वास तथा उसका समाज और व्यक्ति पर जो प्रभाव पड़ता है, उसे धर्म कहा जाता है। यह ईश्वर में विश्वास विकसित होकर ईश्वर में, धर्म गुरु, पैगंबर, अवतार या देवमानव में, तथा धर्मग्रन्थ में, इन तीन में से एक, अनेक या सभी में विश्वास में परिणत हो जाता है। उदाहरण के लिए जैन और बौद्ध धर्म सर्व नियामक ईश्वर में विश्वास नहीं करते, लेकिन वे सिद्ध महापुरुष, जिन या बुद्ध में, तथा धर्मग्रन्थों में विश्वास करते हैं। विश्व के सभी धर्म इन तीनों में से किसी न किसी के प्रति विश्वास पर आधारित हैं। महाभारत में धर्म की व्युत्पतिपरक परिभाषा दी गयी है:

धारणाद्धर्म मित्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः।
यः स्याद्धारण संयुक्तः स धर्म इति निश्चयः॥

धर्म शब्द संस्कृत की "धृ धारणे" धातु से बना है, जिसका अर्थ है धारण करना। जो तत्व, विचार, भाव या वस्तु व्यक्ति और समाज को धारण कर सके, स्थिरता एवं गति प्रदान कर सके वह धर्म कहलाता है। जीवन के रोग-शोक, जरा-मृत्यु, तापत्रय आदि जब मानव पर आक्रमण कर उसे अस्थिर बनाने का प्रयत्न करते हैं तब धर्म उसे स्थिरता प्रदान करता है। ईश्वर में विश्वास भी धारण करने में सक्षम एवं स्थिरता प्रदान करने में समर्थ एक प्रभावशाली तत्व है। वह व्यक्ति को विशृंखलित होने से, मानसिक दृष्टि से टूटने अथवा विखंडित होने से बचाता है।- धर्म समाज को भी स्थिरता प्रदान करता है। एक ही धर्म वाले, एक ही पैगंबर या धर्म-ग्रन्थ में विश्वास करने वाले व्यक्ति एक साथ रह सकते हैं, तथा बाह्य आक्रमणों का सामना करने में भी समर्थ होते हैं। लेकिन विश्वास पर आधारित धर्म की एक समस्या यह है कि एक ओर जहाँ वह एक ही धर्म में, विश्वास रखने वाले लोगो को संगठित करता है, वहीं वह अन्य धर्मों में, अन्य पैगम्बर या धर्मग्रन्थ में विश्वास रखने वाले समूह से उन्हें पृथक भी करता है। अर्थात् वह विघटन का एक कारण भी बन जाता है। यही कारण है कि ईसा के अनुयायी हजरत मुहम्मद के अनुयायियों को अपना शत्रु समझते हैं, तथा हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे से लड़ते रहते हैं।

स्वामी विवेकानन्द ने धर्म के आध्यात्मिक, सामाजिक और व्यावहारिक पक्षों का गहन अध्ययन करने के बाद, धर्म के जीते जागते स्वरूप श्रीरामकृष्ण के जीवन को निकट से देखने के बाद, तथा उनके मार्गदर्शन में यथार्थ धार्मिक जीवन-यापन करके, धर्म को एक नया अर्थ प्रदान किया है। वे कहते थे, Religion is realization, it is being and becoming. If there is a God, we must see Him; if there is an Atman, we must realize it. अर्थात् "धर्म अनुभूति का विषय है। वह बनना और होना है। अगर ईश्वर है, तो हमें उसे देखना चाहिए। अगर आत्मा है तो हमें इसका अनुभव करना चाहिए।" स्वामीजी कहते थे कि अगर तुममें मात्र शिश्वास है, लेकिन जबतक तुमने ईश्वर का साक्षात्कार नहीं किया है, तबतक तुम सच्चे मायने में धार्मिक नहीं हो। तुम नास्तिक ही हो। श्रीरामकृष्ण से भी उन्होंने यही प्रश्न किया था: "महाशय, क्या आपने ईश्वर को देखा है।" अपरोक्षानुभूति संपन्न ब्रह्मज्ञ पुरुष श्रीरामकृष्ण ने उत्तर दिया था: "हाँ मैंने ईश्वर को देखा है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार

में तुझे देख रहा हूँ, बल्कि इससे भी स्पष्टतर रूप से अगर तू चाहे तो तुझे भी दिखा सकता हूँ। लेकिन कौन ईश्वर को देखना चाहता है। स्त्री-पुत्र,-धन, वैभव, आदि के लिए लोग घड़ों आंसू बहाते हैं, पर कोई ईश्वर के लिए नहीं रोता। यदि कोई ईश्वर के लिए ३ दिन व्याकुल होकर रोये तो ईश्वर के दर्शन निश्चित रूप से हो सकते हैं। वस्तुतः स्वामी विवेकानन्द के छोटे से प्रश्न के पीछे अनेक प्रश्न छिपे थे, यथा। क्या ईश्वर है ? क्या ईश्वर को देखा जा सकता है ? क्या आपने देखा है ? क्या सभी उसे देख सकते हैं ? उसे देखना कैसे होता है। किस उपाय से उसे देखा जा सकता है ? यह एक वैज्ञानिक जिज्ञासा थी, जिसका उत्तर भी श्रीरामकृष्ण ने वैज्ञानिक पद्धति से दिया था, उन्होंने यह नहीं कहा कि मैंने ईश्वर को देखा है, पर और कोई नहीं देख सकता। बल्कि ईश्वर की प्रत्यक्ष अनुभूति को उन्होंने किसी भी वैज्ञानिक सत्य की तरह प्रत्येक व्यक्ति के अनुभव गम्य बताया। स्वयं श्रीरामकृष्ण ने भी अपने साधना-काल में एक वैज्ञानिक गवेषक की तरह ईश्वर के अस्तित्व के विषय में प्रश्न किया था। माँ जगदम्बा की प्रस्तर मूर्ति की पूजा करते हुए वे प्रश्न करते थे, "माँ, तू मृण्मयी है या चिन्मयी ? तूने कमलाकान्त और राम प्रसाद को दर्शन दिया, मुझे क्यों नहीं देती ?" यही कारण है कि स्वामीजी के प्रश्न का वे इतना वैज्ञानिक और असंदिग्ध उत्तर दे सके थे।

लेकिन ईश्वर दर्शन का मापदंड क्या है ? हम कैसे जाने कि अमुक व्यक्ति को ईश्वर दर्शन हुआ है ? अस्तित्वरहित वस्तु को देखना अथवा वाणी को सुनना एक प्रकार का मानसिक रोग है जिसे हेल्पुसिनेशन कहा जाता है। और फिर किसी को भ्रम भी हो सकता है कि उसने ईश्वर दर्शन किया है, विशेषकर भाव-प्रवण लोगों में ऐसी संभावना अधिक होती है। एक मजेदार कहानी सुनिए। ईश्वर-दर्शन का इच्छुक एक व्यक्ति किसी कापियुगी गुरु के चक्कर में फंस गया। गुरु ने कहा कि मैं तुम्हें मंत्र-दीक्षा दूंगा तथा गुरु दक्षिणा के रूप में १०१ रुपये तुम्हें देने होंगे—मैं एक महीने में तुम्हें तुम्हारी इष्ट देवी माँ काली के दर्शन करा दूंगा। शिष्य राजी हो गया। मंत्र-दीक्षा तथा प्रणामी के बाद गुरु ने शिष्य को एक महीने तक जप करने के बाद उसके पास आने को कहा। एक महीने बाद उसने शिष्य को एक अंधेरी कोठरी में बैठकर जप करने को कहा। अचानक एक धमाका हुआ और आंखें खोलने पर शिष्य ने देखा कि उसकी आराध्या चतुर्भुजी माँ काली उसके सामने खड़ी हैं। हाथ जोड़ कर "सर्वमंगल मंगल्ये" आदि स्तुति करने के बाद शिष्य ने माँ काली से प्रश्न किया कि ऐसा सुना जाता है कि माँ काली के दर्शन होने पर या तो दर्शन करने वाले को अत्यधिक भय होता है, अथवा स्वर्गीय आनन्द—लेकिन उसे तो ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। इसके उत्तर में माँ काली पुरुष वाणी में बोली कि उसे यह कुछ नहीं मालूम। उसे तो उसके गुरु ने १०१ रुपये देकर उसके सामने दो हाथ और लगा कर चतुर्भुजी काली का रूप धर कर खड़े होने को कहा था। कथा का तात्पर्य स्पष्ट है।

एक बार दक्षिणेश्वर में एक वेदान्ती साधु आये। लेकिन वे अपने आचरण के विषय में ढीले थे, तथा उनका कुछ अवांछनीय, अनैतिक सम्बन्ध था। एक दिन श्रीरामकृष्ण की मुलाकात उनसे हुई। श्रीरामकृष्ण ने बातचीत में उनसे पूछा कि वे वेदान्ती हैं, फिर भी उनके बारे में ऐसी बातें सुनी जा रही है। क्या बात है ? उसने उत्तर में श्रीरामकृष्ण से कहा कि इसमें कौन सी आपत्तिजनक बात है ? "जब सभी मिथ्या है तो मेरा अनैतिक आचरण ही कैसे सत्य होगा ? वह भी मिथ्या है।" यह सुनकर श्रीरामकृष्ण अत्यन्त रुष्ट हो गये और यह कहकर वहाँ से चले आये

"साले, मैं तेरे ऐसे वेदान्त ज्ञान पर थूकता हूँ।" तात्पर्य यह कि यदि वेदान्त के ज्ञान के साथ वैराग्य संयम, त्याग न हो तो वह व्यर्थ है। इसी तरह वास्तविक भगवद्दर्शन अथवा धर्म की कसौटी नैतिकता, त्याग, एवं वैराग्य हैं। यदि किसी के जीवन में दर्शनादि हों, लेकिन यदि उसके जीवन में चारित्रिक विकास न हो, यदि वह व्यक्ति दुश्चरित्र हो तो समझना चाहिए कि उसके दर्शनादि सच्चे नहीं हैं। इस कसौटी पर भी श्रीरामकृष्ण नितान्त खरे उतरते हैं। श्रीरामकृष्ण सत्य, ब्रह्मचर्य, अपरियह, अस्तेय आदि नैतिक आदर्शों में पूर्णरूप से प्रतिष्ठित थे। श्रीरामकृष्ण की जीवनी से परिचित पाठक जानते हैं कि एक बार अनजाने में भी कोई बात मुँह से निकल जाने पर श्रीरामकृष्ण उसके विपरीत आचरण नहीं कर सकते थे। शंभू मल्लिक से पेट-दर्द की दवाई लेने का वादा करने के बाद भूलकर उसके कम्पाउण्डर से लेने के फलस्वरूप उनके पैर लड़खड़ाने लगे, और लौटने का रास्ता ही दिखाई न दिया। हाथ में एक पुड़िया पान-मसाला ले लेने के फलस्वरूप श्रीरामकृष्ण के पैर विपरीत दिशा में जाने लगे···इसलिए कि संन्यासी होकर वे इतनी छोटी सी वस्तु का संग्रह कैसे कर सकते हैं। इस तरह के अनेक दृष्टान्त दिये जा सकते हैं। इसे ही स्वामी विवेकानन्द ने होना और बनना कहा है। धर्म का अर्थ है हमारे जीवन का, व्यक्तित्व व चरित्र का समूल परिवर्तन।

धर्म का एक और आयाम है। और वह है लोककल्याण। जिस तीव्रता और व्याकुलता के साथ श्रीरामकृष्ण माँ जगदम्बा के दर्शनों के लिए लालायित हुए थे, उसी तीव्रता और व्याकुलता के साथ वे जगत् कल्याण एवं धर्म प्रचार में संलग्न हुए थे। साधनाओं के अन्त में, वे व्यग्रता से अपने भावी शिष्यों की प्रतीक्षा करने लगे थे। दिनभर तो किसी तरह बीत जाता था, लेकिन सायंकाल वे व्यग्र हो उठते थे, "कहाँ हो मेरे बच्चो, आओ।" अपने जीवन का उत्तरार्ध उन्होंने लोगों के कल्याण के लिए ही उत्सर्ग कर दिया। 'स्वयं स्वामी विवेकानन्द को भी उन्होंने ऐसा करने का ही उपदेश दिया। जब स्वामी विवेकानन्द ने शुकदेव की तरह निरंतर समाधि में डूबे रहने की अपनी हार्दिक इच्छा व्यक्त की तो श्रीरामकृष्ण ने उन्हें डांटते हुए कहा कि वे चाहते हैं कि उसे तो एक वट वृक्ष के समान होना चाहिए जिसकी छाया में असंख्य दुखी, पीड़ित तापित लोग आश्रय व शांति प्राप्त कर सकें। स्वामी विवेकानन्द भी कहते थे कि मैं ऐसे धर्म में विश्वास नहीं करता जो विधवा के आँसू नहीं पोंछ सकता, जो भूखे को रोटी नहीं दे सकता या जो नंगे को वस्त्र नहीं दे सकता! जो धर्म स्वर्ग में सुख देने का वादा करे लेकिन इस लोक में हमारे दुःख दूर नहीं कर सके, ऐसे धर्म में मैं विश्वास नहीं करता।

इस तरह श्रीरामकृष्ण के जीवन से हम धर्म के तीन आयाम, तीन पक्ष प्राप्त करते हैं: अनुभूति, नैतिकता, और लोक-कल्याण या हृदय की विशालता। इन तीनों में से किसी के भी अभाव से धर्म अधूरा ही रहेगा। हाँ, यह अवश्य है कि किसी व्यक्ति में इन तीनों में से किसी एक या दो का अधिक विकास हो, और अन्य का कम, लेकिन तीनों ही किसी न किसी मात्रा में धार्मिक होने के लिए होना आवश्यक है।

धर्म संस्थापन

गीता में भगवान ने स्पष्ट घोषणा की है।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे-युगे॥

इस श्लोक में भगवान् ने धर्म संस्थापन की विधि का भी संकेत दिया है। साधुओं का परित्राण और दुष्टों का विनाश हेतु भी है और

धर्म संस्थापन का उपाय भी है। इसी से धर्म संस्थापन भी होता है। यह कार्य भगवान् ने अपने विभिन्न अवतारों के माध्यम से किया था। यथा श्रीकृष्णावतार में उन्होंने कंस, जरासन्ध, कालयवन कौरवों आदि का वध करके अथवा करवा कर धर्म संस्थापन किया। रामावतार में उन्होंने रावण, कुंभकर्ण, मेघनादादि राक्षसों का वध किया। लेकिन रामचरित मानस के महान प्रणेता तुलसीदासजी की दृष्टि में रावणादि राक्षस हमारे अन्तः करण के विभिन्न दुर्गुणों के उपलक्षण हैं। विनय पत्रिका में उन्होंने कहा है कि रावण मोह का प्रतीक है, कुंभकर्ण अहंकार और मेघनाद काम का प्रतीक है। श्रीरामकृष्ण ने किसी बाह्य राक्षस अथवा दुर्जन का नाश तो नहीं किया किन्तु उन्होंने अपने भीतर के तथा अपने शिष्यों के हृदय में बैठे मोह, अहंकार, और काम का अवश्य समूल नाश किया और इस तरह धर्म संस्थापन किया।

रामचंद्रजी द्वारा राक्षसों के वध के क्रमानुसार पहले अहंकार को ही ले लें। श्रीरामकृष्ण ने अपने अहंकार का नाश करने के लिए अभूतपूर्व साधना की थी। साधना काल में उन्होंने मेहतरों के शौच के स्थान को धो कर अपने लंबे-लंबे बालों से पोंछा था, जिससे उनके ब्राह्मणत्व का अहंकार नष्ट हो सके। केवशचंद्र सेन आदि अन्यान्य विद्वानों से मिलने पर वे स्वयं पहले नतमस्तक होकर प्रणाम करते थे। गिरीशचन्द्र घोष से जब उनके थियेटर में उनकी पहली मुलाकात हुई तो श्रीरामकृष्ण ने पहले प्रणाम किया। गिरीश घोष ने थोड़ा झुककर प्रणाम किया। इसके प्रत्युत्तर में श्रीरामकृष्ण ने और झुक कर प्रणाम किया। गिरीश और झुके तो श्रीरामकृष्ण ने भूमि का स्पर्श करके प्रणाम किया। इस पर गिरीश को यह सोचकर निरस्त होना पड़ा कि यह सिलसिला तो कभी बन्द ही नहीं होगा। गिरीश घोष कहा करते थे कि रामावतार में भगवान् ने धनुष-बाण से विजय प्राप्त की, कृष्णावतार में बांसुरी से, लेकिन रामकृष्णावतार में विनयरूपी अस्त्र से उन्होंने विश्व को जीता है।

श्रीरामकृष्ण पूर्णकामजमी थे। वे अपनी धर्मपत्नी के साथ एक ही शैया पर सोये लेकिन उनका ब्रह्मचर्य अखंडित रहा। ऐसा नहीं कि उन्हें बलपूर्वक संयम को धारण करना पड़ा था। यह उनके लिए स्वाभाविक था, तथा उनके मन के किसी छिपे कोने में भी कहीं भी भोग की वासना नहीं थी। अपने स्वाभाविक संयम की परीक्षा हेतु उन्होंने अपनी धर्मपत्नी माँ सारदा को सात माह तक अपनी शैया पर अपने पास सुलाया। एक रात्रि को अपनी निद्रित पत्नी की देह को देखकर उन्होंने अपने मन को संबोधित करते हुए कहा, "रे मन, इसी का नाम नारी शरीर है। संसार के सभी लोग इसका भोग करने को लालायित रहते हैं। यह तुझे धर्म से प्राप्त है अगर तू चाहे तो इसका भोग कर सकता है, लेकिन इसके भोग से भगवान से दूर हो जाना पड़ता है। मन में एक बात और बाहर एक बात न रख, हे मन!" इस तरह मन को सम्बोधन कर ज्योंही श्रीरामकृष्ण माँ के शरीर को स्पर्श करने को अग्रसर हुए, उनका मन पूरे वेग से अन्तर्मुख होकर गहरी समाधि में डूब गया।

अब मोह रूपी रावण के वध को लें। सामान्यतः किसी व्यक्ति, अथवा वस्तु के प्रति अत्यधिक लगाव अथवा आसक्ति को मोह समझा जाता है। लेकिन मोह वस्तुतः समस्त दुर्गुणों का मूल है और उसका अर्थ कहीं अधिक व्यापक है। व्यक्ति अथवा वस्तु विशेष के प्रति आसक्ति मूलतः अज्ञान अथवा अविद्या के कारण होती है, और यही मोह है। अनित्य को नित्य समझना, अनात्मा को आत्मा समझना, दुःख पूर्ण को सुखमय समझना और अशुचि को शुचि समझना योगशास्त्र

के अनुसार अविद्या कहलाता है। मानव अनित्य, नश्वर, अशुचि देह को नित्य चिरस्थायी और शुचि समझ कर उसी तथा उसके सम्बन्ध से अन्य देहों से आसक्त हो जाता है। यह अज्ञान ही राग-द्वेष, आदि अनेक अनर्थों का कारण है, और यही वस्तुतः मोह है। श्रीरामकृष्ण के जीवन में भी कुछ लोगों के प्रति मोह-सा प्रतीत होता है। आपाततः ऐसा लगता है कि वे अपने युवक भक्तों, विशेषकर नरेन्द्रनाथ के प्रति अत्यधिक आसक्त हैं। नरेन्द्र जब आता है तो केवल उसी से बातें करते हैं, उसी की ओर मुँह करके बैठते हैं। एक रात्रि की घटना है। दो भक्त श्रीरामकृष्ण के पास ही रात्रि यापन कर रहे हैं। वे बाहर के बरामदे में सो रहे हैं। अचानक आधीरात को श्रीरामकृष्ण उनमें से एक के पास जाकर कहते हैं, "अरे! सो गये क्या?" भक्त तत्काल उठ बैठता है, और श्रीरामकृष्ण से पूछता है कि क्या आदेश है। श्रीरामकृष्ण कहते हैं "वह नरेन्द्र नामक लड़का है न, वह बहुत अच्छा है। बहुत दिनों से यहाँ नहीं आया। उसके लिए मेरे प्राण व्याकुल हो रहे हैं। उसकी याद में नींद नहीं आ रही है। उसके विरह के कारण सीने में ऐसी पीड़ा हो रही है, मानो कोई तौलिया निचोड़ रहा है। तुम सुबह जाकर उसे कहना कि वह शीघ्र आकर मुझसे मिले।" भक्त पुनः सो गये। लेकिन एक ही घंटे के बाद श्रीरामकृष्ण पुनः उनके पास आये, उन्हें जगाया और पुनः उन्हीं बातों को दुहराया। यह क्रम सारी रात चलता रहा। ऐसा मोह, तो संसार में एक दूसरे से अत्यधिक प्रेम करने वाले स्त्री-पुरुषों में भी नहीं देखा जाता। एक दिन तो नरेन्द्रनाथ ने श्रीरामकृष्ण के उनके प्रति अत्यधिक आसक्ति पर उन्हें टोक ही दिया। नरेन्द्र ने श्रीरामकृष्ण से स्पष्ट कहा कि यदि वे उससे इतना अधिक आसक्त रहेंगे तो उनकी अवस्था जड़भरत की सी होगी जिसको एक मृग-शावक में आसक्त होने के कारण मृग के रूप में पुनः जन्म लेना पड़ा था। इस पर श्रीरामकृष्ण बालक की तरह डर गये और सीधे माँ जगदम्बा के पास पहुँचे। लौटने पर उनका भय दूर हो गया था और वे निश्चिन्त होकर नरेन्द्र के पास आकर कहने लगे 'माँ जगदम्बा ने मुझे बताया है कि मैं तुझे इसीलिए प्रेम करता हूँ क्योंकि मैं तुझमें ईश्वर को देखता हूँ। जिस दिन मैं तुममें भगवान् को नहीं देखूँगा, उस दिन मैं तेरा मुँह भी देख नहीं सकूँगा।" तात्पर्य स्पष्ट है। आपाततः आसक्ति अथवा मोह प्रतीत होने वाला नरेन्द्र के प्रति श्रीरामकृष्ण का प्रेम ईश्वर के प्रति प्रेम ही था। वे सर्वत्र, सभी में बाह्य अनित्य देहों के पीछे विद्यमान नित्य चैतन्य परमात्मा का ही सर्वदा दर्शन करते थे। इस तरह उन्होंने अज्ञान, अविद्या और मोह का पूर्ण रूप से नाश किया था।

★

गूँजी विवेकवाणी

—स्वामी ब्रह्मस्थानन्द
रामकृष्ण मठ, हैदराबाद

सर्वधर्म की संसद में जब गूँजी विवेक-वाणी
जीत लिया सब जन-गण-मन को, यह है अमर कहानी
शिकागो की धर्म सभा में आये प्रतिनिधिवृन्द
उनमें बैठे थे भारत के स्वामी विवेकानन्द
अपने अपने धर्म-भाव की सबने शान बखानी
हिन्दू धर्मादर्श बताने गूँजी विवेक-वाणी
जीत लिया सब जन-गण-मन को यह है अमर कहानी ॥१॥

'अमेरिका के बहन-भाइयो', संबोधन निर्द्वंद्व
शब्द नहीं थे, अग्नि-मंत्र थे जो बोले विवेकानन्द
श्रोताओं की गजी तालियाँ, हर्ष-ध्वनि दीवानी
इस स्वागत की स्वीकृति में ज्यों गूँजी विवेक-वाणी
जीत लिया सब जन-गण-मन को, यह है अमर कहानी ॥२॥

'धन्यवाद है तुम सब को उस हिन्दू-धर्म की ओर से
जो है माता सब धर्मों की प्राचीन सनातन नाम से
सब का आश्रय हिन्दुस्थान है, जहाँ रहे हैं ऋषिमुनि'
उस भारत के विश्वप्रेम की गूँजी विवेक-वाणी
जीत लिया सब जन-गण-मन को, यह है अमर कहानी ॥३॥

'सभी धर्म हैं सच्चे अच्छे, मार्ग अमर पद पाने के
हम सब मानव एक प्राण हैं, बच्चे एक ही ईश्वर के
जहाँ सभी को शरण मिली, उस देश का मैं हूँ वासी
इस समदर्शन को सम्मुख करने गूँजी विवेक-वाणी
जीत लिया सब जन-गण-मन को, यह है अमर कहानी ॥४॥

'यहूदी औ, पारसी आये, सब को हमने अपनाया
सहिष्णुता का आदर्श दिखाकर मानवधर्म सिखाया'
विश्वशान्ति का दीप जला दी जग को ज्योति सुहानी
और धर्मचक्र का प्रवर्तन करके गूँजी विवेक-वाणी
जीत लिया सब जन-गण-मन को, यह है अमर कहानी ॥५॥

"जैसे टेढ़ी सीधी नदियाँ सागर में मिल जातीं
वैसे ही भगवन् तुम में हर नर की राहें जातीं।"
'लाखो लोग गाते हैं प्रतिदिन महिम्न-स्तोत्र की पांती
धर्मठता को छोड़ो अब तुम; गूँजी विवेक-वाणी
जीत लिया सब जन-गण-मन को, यह है अमर कहानी ॥६॥

'गीता की वाणी की है यह धर्म सभा नव कविता
"जैसे मुझ को जो भजते, वैसे उनको मैं भजता"
छोड़ो अब मतान्धता भोंड़ी, बहुत हुआ है हिंचाचार
धर्म समन्वय अपनाओ अब, गूँजो विवेक-वाणी
जीत लिया सब जन-गण-मन को, यह है अमर कहानी ॥७॥

आधुनिक समस्याएँ और उनके प्राचीन समाधान

—स्वामी हर्षानन्द
सचिव, रामकृष्ण मिशन आश्रम,
बंगलोर
अनुवादक—स्वामी विदेहात्मानन्द

१

जीवन समस्याओं से परिपूर्ण है

जीवन समस्याओं से परिपूर्ण है। केवल दो तरह के लोग ही इससे मुक्त हैं—एक तो पूर्णताप्राप्त लोग, जो कि जगत के परे जा चुके हैं और दूसरे वे जो वज्र-मूर्ख हैं। विकास के विविध स्तरों तक उन्नीत हुए बाकी सभी मानव इनसे आच्छन्न हैं। और खेद की बात तो यह है कि आधुनिक जगत् में विज्ञान एवं तकनीकी प्रगति तथा सभ्यता के उच्चतर स्तर की उपलब्धि के बावजूद समस्याओं में वृद्धि ही हुई। एक ओर जहाँ विश्व समुदाय के कुछ वर्गों में जीवन की मूलभूत सुविधाओं का अभाव चिन्ताजनक है, वहीं अन्य वर्गों में उनका प्राचुर्य पृथ्वी पर जीवन के अस्तित्व को ही खतरे में डाले हुए है। समस्याएँ और चिन्ताएँ तनावों को जन्म देती हैं। मानसिक तनाव मानव जीवन पर हानिकर प्रभाव डालते हैं और इसके फलस्वरूप बहुधा वह और भी प्रतिकूल क्रियाएँ करने को बाध्य होता है। जीवन की स्वाभाविक एवं न्यायसंगत महत्वाकांक्षाएँ, अनुभवहीनता के साथ संयुक्त होकर विशेषकर युवकों को इन तनावों का शिकार बनाती हैं। धूम्रपान, सुरासेवन, नशेबाजी, यौन-अनाचार तथा हिंसक मनोवृत्ति—एक रुग्ण मानसिकता के लक्षण है। अतः सभी मानवीय समस्याओं, जिनमें मानव-समाज के महत्वपूर्ण घटक युवावर्ग की समस्याएँ भी शामिल हैं, से और मूलभूत स्तर पर निपटना होगा, और भी मूलभूत समाधान ढूढ़ना होगा।

२

मूलभूत समाधान

हमारे प्राचीन काल के ऋषियों ने ठीक यही किया था। (भारत के इन ऋषियों ने ही 'हिन्दू धर्म' के नाम से सुपरिचित 'सनातन धर्म' का पुनरुद्धार और प्रचार किया था)। मूलभुत समाधान को सभी कालों में सत्य एवं प्रयोज्य होना चाहिए। उनका समाधान था ईश्वर में गहन श्रद्धा तथा उसके सहवर्ती मूल्यों का विकास। यदि हमें एक बोझ उठाना है तो सर्वप्रथम हमें एक ऐसे दृढ़ आधार की आवश्यकता होगी, जिस पर खड़े होकर बोझ उठाने पर वह उसके भार से खिसक या च्युत न हो जाय। ईश्वर में गहन निष्ठा हमें एक ऐसा ही आधार प्रदान करती है, जिसमें स्थित होकर हम अपनी समस्त समस्याओं का सफलतापूर्वक सामना कर सकते हैं।

यह समाधान न तो हास्यास्पद है और न ही एक सम्मोहक शब्दावली में प्रच्छन्न पलायनवाद है। जीवन एक गम्भीर वस्तु है और उसके समाधान भी वैसे ही होने चाहिए। यह समाधान हजारों वर्ष तक परीक्षित होकर खरा उतरा है। अतः क्यों न हम भी इसे एक अवसर दें?

३

ईश्वर सम्बन्धी हिन्दू धारणा पूर्णतः बुद्धिसंगत है

एक बात प्रारम्भ में ही स्पष्ट कर देना आवश्यक है और वह यह कि ईश्वर सम्बन्धी हिन्दू धारणा पूर्णतः

बुद्धिसंगत है। हिन्दू धर्म का ईश्वर न तो 'जनसाधारण का अफीम' है और न ही एक जगदातीत सत्ता है। वह एक परम बुद्धिमय शक्ति है, जो अपने अन्दर से इस ब्रह्माण्ड का विकास करती है, पोषण करती है और अन्ततः अपने आप में ही विलीन कर लेती है। चरम विश्लेषण में हम इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को उसके साथ अभिन्न जान पाते है। आधुनिक वैज्ञानिक गवेषणाएँ भी क्रमशः सम्पूर्ण सृष्टि की मूलभूत एकता की ओर ही इंगित करती है। परमाणु-विज्ञान ने हमें लाकर मानो दर्शन-शास्त्र की दहलीज तक पहुँचा दिया है। अतः हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि ईश्वर सम्बन्धी हिन्दू धारणा पूर्णतः बुद्धिसंगत है।

फिर ईश्वर केवल बुद्धिमय शक्ति ही नहीं, बल्क उसका एक व्यक्तित्व भी है, जिसमें सर्वगुण अकल्पनीय मात्रा में विद्यमान हैं। और इस कारण मानव-हृदय को वह अत्यन्त प्रिय है। वेद, उपनिषद्, गीता आदि अपने अपने धर्म के 'पाठ्य पुस्तको' से हमें यही जानकारी प्राप्त होती है। इन ग्रन्थों पर विश्वास रखना उसी प्रकार आवश्यक है' जिस प्रकार भौतिक विज्ञान के अध्ययन-क्षेत्र में प्रवेशार्थी को उक्त विषय के प्रामाणिक ग्रन्थों में निरूपित समस्त तथ्यों पर विश्वास करना पड़ता है।

४

क्या ईश्वर के प्रति श्रद्धा हमारी समस्याओं के समाधान में सहायक सिद्ध हो सकती है ?

परन्तु ईश्वर में श्रद्धा भला किस प्रकार हमारे जीवन की समस्याओं को हल करने में सहायक सिद्ध हो सकती है ? वस्तुतः अपनी समस्याओं के समाधानार्थ हमें दो मूलभूत चीजों की आवश्यकता होती है : उचित समाधान ढूँढ़ निकालने हेतु 'विवेक' की और उसे कार्यान्वित करने के लिए 'शक्ति' की। यदि हम ईश्वर पर विश्वास रखें और सच्चे हृदय के साथ उनसे प्रार्थना करें तो हमें इन दोनों की तथा और भी काफी कुछ की उपलब्धि हो जाती है। जिस प्रकार विद्युत पावरहाउस में उत्पादित होकर हमारे स्विच दबाने पर बल्ब में प्रविष्ट हो जाती है, अथवा जैसे टोंटी घुमाने पर नगर के जलाशय का पानी हमारी बाल्टी में गिरने लगता है, ठीक उसी प्रकार श्रद्धा एवं प्रार्थना के द्वारा हममें महान् प्रज्ञा तथा अद्भुत् शक्ति का स्फुरण होगा, जिनकी सहायता से हम अपनी समस्याओं के साथ भलीभाँति निपट सकेंगे। महत्व की बात तो यह है कि हमारी श्रद्धा एवं प्रार्थना की आन्तरिकता के अनुपात में ही हमें उन दिव्य शक्तियों की उपलब्धि होगी :

५

हिन्दू धर्म आपको परलोक-परायण नहीं बनता।

अपने मन से यह धारणा निकाल डालना ही उचित होगा कि हिन्दू धर्म हमें परलोक-परायण बनाता है और इसके फलस्वरूप हम इहलोक के प्रति उदासीन हो जाते हैं। हमारे धर्म में जीवन के लक्ष्य रूप जो चार पुरुषार्थों की व्यवस्था दी गयी है, वह विश्व के सामाजिक-धार्मिक इतिहास में अनुपम है। इसमें 'धन' (अर्थ) और स्वाभाविक इच्छाओं (काम) द्वारा प्राप्त होनेवाले जीवन के स्वाभाविक सुखों से किसी को भी वंचित नहीं किया गया है। परन्तु इनकी परिपूर्ति उसे 'धर्म'-तत्त्व अर्थात् सत्य एवं न्याय के आधार पर करनी होगी। धर्म का पालन करनेवाले को स्वयं भोग करते हुए भी सर्वदा दूसरों की भलाई ध्यान में रखनी पड़ती है। जब इसका ठीक ठीक पालन किया जाता है तो यह व्यक्ति को धीरे धीरे निःश्रेयस अर्थात् मोक्ष की ओर ले जता है। आगे चलकर इस पर और भी चर्चा होगी।

६

धर्म क्या है ?

सभी पुरुषार्थों के आधार इस 'धर्म' शब्द का अर्थ है—'वह जो सबको धारण करे।' अतः सार रूप में इसके लक्ष्यार्थ स्वयं ईश्वर ही हैं; परन्तु सामान्य तौर पर इसका अर्थ है— वह ईश्वरीय नियम जो ब्रह्माण्डीय तथा सामाजिक-वैयक्तिक दोनों ही स्तरों पर क्रियाशील

है। इनमें से पहले को 'ऋत' और दूसरे को 'धर्म' के नाम से अभिहित किया गया है। ऋत सृष्टि के विविध तत्वों को संयुक्त रखता हैं और उनकी गति एवं पारस्परिक क्रिया को नियमित करता है।

धर्म शब्द ऋत से ही व्युत्पन्न हुआ है, जिसे व्यक्तिगत तथा सामाजिक स्तर पर व्यवहार में लाया जाता है, ताकि व्यक्ति अपनी पूर्णता की खोज में लगा रहे और समाज उसके लिए उचित पर्यावरण की सृष्टि करता रहे। इसके फलस्वरूप 'वर्ण' और 'आश्रम' नामक दो अत्यद्भुत् व्यवस्थाओं का विकास हुआ है।

७

जीवन की अवस्थाएँ

आश्रम व्यवस्था व्यक्ति को क्रमशः जीवन को चार अवस्थाओं में से होकर ले जाती है। इनमें से प्रत्येक अवस्था मानो उक्त अवस्था के प्रशिक्षण तथा अगली अवस्था के लिए प्रस्तुत करने की एक सहज व्यवस्था है। पहली अवस्था—ब्रह्मचर्य आश्रम के दौरान प्राप्त प्रशिक्षण व्यक्ति को न केवल बौद्धिक ज्ञान की प्राप्ति में में सहायक होता है अपितु उसमें अत्यावश्यक नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों का भी विकास करता है, जिनमें 'आत्मसंयम' मानो आधारभूमि के समान है। ये उपलब्धियाँ उसे सुरक्षापूर्वक गृहस्थाश्रम अर्थात् वैवाहिक जीवन में प्रवेश करने में सहायक सिद्ध होती हैं। यहाँ पर भी परिवार का निर्माण और पालन जितना महत्वपूर्ण कर्तव्य है, आत्मसंयम का अभ्यास भी उतना ही आवश्यक है। इस आश्रम में उससे एक मर्यादित और आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी जीवन बिताने के साथ ही साथ यह भी अपेक्षा की जाती है कि वह समाज के प्रति अपने विभिन्न कर्तव्यों को पूरा करेगा। जीवन की प्रथम अवस्था में सीखी हुई साधना के निरन्तर अभ्यास तथा गृहस्थ जीवन के विविध अभ्यास तथा गृहस्थ जीवन के विविध अनुभव, इस अवस्था की समाप्ति तक व्यक्ति में यथेष्ठ परिपक्वता एवं वैराग्य ला देने में सहायक होते हैं। और तदुपरान्त वह अपनी घर-गृहस्थी त्यागकर वन की ओर प्रस्थान कर सकता है। इसे वानप्रस्थाश्रम अथवा वनवासी तपस्वी की अवस्था कहा जाता है। फिर और भी वैराग्य तथा तीव्र मुमुक्षुत्व का विकास होने पर वह एक संन्यासी अथवा परिव्राजक का जीवन अपनाने को आकृष्ट होता है। इस अवस्था में वह सामान्य जीवन के अपने कर्तव्यों तथा जिम्मेदारियों से उन्मुक्त होकर आध्यात्मिक आलोक के लिए यथासाध्य प्रयास करता है।

वस्तुतः, वर्तमान काल में केवल पहली दो अवस्थाएँ ही बच रही हैं और वे भी अब परिवर्तित एवं विकृत हो चुकी हैं। चौथी अवस्था कोई विरला ही चुनता है।

८

सामाजिक व्यवस्था

यदि समाज एक ऐसे पर्यावरण की सृष्टि कर सके, जिसमें व्यक्ति को पूर्णता की ओर विकसित होने में सहायता मिले, तो उसका पथ बड़ा ही सहज-सुगम हो जाता है। वर्णव्यवस्था व्यक्ति को सामाजिक स्थिरता प्रदानकर उसके लिए सुरक्षा-प्राचीर का कार्य करती है। यह व्यवस्था व्यक्ति के गुण तथा स्वभाव के अनुसार श्रम के प्राकृतिक विभाजन का एक आधार प्रदान करती है। तदनुसार जो लोग 'सादा जीवन और उच्च विचार' के आदर्श को अपना कर ज्ञान के अर्जन और प्रसार में लग गये, उन्हें ब्राह्मण कहा गया। जिन लोगों ने समाज की बाह्य आक्रमणों से रक्षा करने, आन्तरिक कानून और व्यवस्था बनाये रखने तथा न्याय प्रदान करने का दुस्सह कार्य हाथ में लिया, वे क्षत्रिय कहलाये। फिर जिन लोगों ने खेती को उपज तथा अन्यान्य वस्तुओं और धन-सम्पदा के उत्पादन व वितरण का उत्तरदायित्व संभाला, उन्हें वैश्य की आख्या दी गयी। और जिन बाकी लोगों ने समाज को शारीरिक श्रम प्रदान किया, वे शूद्र के रूप में परिवर्तित हुए।

कालान्तर में यह वर्णव्यवस्था प्रायः पूर्णतया आनुवंशिकता द्वारा प्राप्त व्यवसायों पर आधारित होकर

अनेक वर्गों में विभाजित हो गयी और इस प्रकार इसका 'जाति व्यवस्था' में रूपान्तरण हो गया।

वर्तमान काल में प्रत्येक व्यवसाय का द्वार सबके लिए उन्मुक्त हो चुका है, अतः अब यह प्रथा अप्रासंगिक हो गयी है। यहाँ पर यह बता देना उचित होगा कि हिन्दू धर्म का इस प्रथा से कुछ भी लेना-देना नहीं है। और आप चाहे स्वीकार करें या न करें, पर वर्ण-व्यवस्था अब भी अपने मूल रूप में जीवित है, क्योंकि यह सभी समाजों में व्यक्तियों का उनके व्यक्तिगत गुणों और व्यवसायों के आधार पर कुछ विशिष्ट प्रकारों में स्वाभाविक वर्गीकरण है।

९

हमारी समस्याओं के समाधान की 'रामवाण औषध'

तुम्हें लग सकता है कि हम विषयान्तर करके मूल प्रश्न से तुम्हारा ध्यान हटा रहे हैं। परन्तु बात ऐसी नहीं है। अपने धर्म तथा संस्कृति के बारे में हमारी समझ को आच्छन्न करनेवाले अनेक भ्रान्त विचारों एवं पूर्वग्रहयुक्त धारणाओं को दूर करने हेतु ऐसे 'विषयान्तर' आवश्यक हैं।

अब हम अपने मूल प्रश्न पर आते हैं। क्या हमारे धर्मग्रन्थ हमारी समस्याओं के समाधान हेतु कुछ सहज और व्यावहारिक सुझाव, कुछ 'रामवाण औषध' प्रदान करते हैं? हाँ, अवश्य करते हैं। वैदिक काल के एक विद्यार्थी को, उसकी शिक्षा पूरी हो जाने पर घर लौटने के पूर्व आचार्य उन्हें पहला उपदेश देते हैं—'सत्यं वद; धर्मं चर।' अर्थात् 'सत्य बोलना तथा धर्म के अनुसार आचरण करना।' पाँच सहस्र वर्ष से भी पहले दिया गया यह उपदेश आज भी प्रासंगिक है।

आज के झूठ और फरेब के वातावरण में जन्मे और पले हमारे 'आधुनिक बहादुर' लोग स्वाभाविक रूप से ही इसे हास्यास्पद कहकर उड़ा देंगे। परन्तु बहुधा हास्यास्पद सी लगनेवाली सहज चीजों के भीतर ही महानतम सत्य छिपा रहता है।

१०

सत्य क्यों?

आजकल यहाँ तक कि बच्चे भी (जो जानबूझ कर अथवा अज्ञानवश अपने माता-पिता तथा बड़े लोगों के द्वारा झूठ बोलने की कला में भलीभाँति प्रशिक्षित हो चुके हैं) एक सहज सा प्रश्न पूछ बैठते हैं: 'हम सत्य बोलकर क्यों अपनी प्रगति का पथ अवरुद्ध करें? क्या पूरा जगत् ही असत्य और बेइमानी का सहारा लेकर समृद्ध नहीं होता जा रहा है?'

'चूँकि सत्य सबका सार है, असत्य बोलना हमारी आध्यात्मिक प्रगति को अवरुद्ध कर देगा'—सन्त-महात्माओं का यह उत्तर आज के बुद्धिजीवी वर्ग को बिल्कुल भी स्वीकार्य न होगा। वे लोग बड़ी बुद्धिमत्ता के साथ यह समझ लेते हैं कि बड़ी-बड़ी बातें बघारने वाले बहुधा आचरण में ओछापन दिखाते हैं। परन्तु वे लोग यदि अपने उपदेशों के अनुसार आचरण करें तो भी ये लोग उन उपदेशों की सच्चाई पर हृदय से विश्वास न कर सकेंगे।

आइए अब हम इस प्रश्न के व्यावहारिक पक्ष की मीमांसा करें। युक्ति के लिए यदि हम मान लें कि हर व्यक्ति एक दूसरे से प्रत्येक विषय पर झूठ बोलना आरम्भ कर देता है: डॉक्टर रोगियों से उनकी बीमारी के बारे में झूठ बोलता हैं और उन्हें गलत दवाइयाँ लिख देता है, औषध-विक्रेता भी जानबूझकर कुछ दूसरा चाहे तो विषैली वस्तु ही दे देता है, एक शिक्षक स्कूल के बच्चों को किसी विषय पर अनाप-शनाप बताता है, एक पत्नी लम्बी यात्रा पर गये अपने पति को एक झूठा तार भेज देती है। अब इन सबका क्या फल होगा? पूरी अव्यवस्था फैल जाती है। इस प्रकार हमने देखा कि समस्या की जड़ कहाँ है! यदि हमारे हाथ में क्षमता रही तो इस तरह झूठ बोलकर हमें तरह

तरह की परेशानियों में डालनेवालों को हम शायद उनके अपराध के दण्डस्वरूप उनका गला ही उतार लें ! तो फिर क्या हमने स्वतः ही सत्य की महत्ता नहीं स्वीकार ली ? अतः झूठ बोलने का निश्चय करने के पूर्व हमें चाहिए कि हम स्वयं को उस दूसरे व्यक्ति की अवस्था में कल्पना करके, उसके भयावह दुष्परिणामों की बात सोचें।

फिर यह भी नहीं कहा जा सकता कि हम जब चाहे अपनी सुविधानुसार झूठ या सच बोल सकते हैं। यदि तुम आग की लपटों पर अपना हाथ रखकर कहो कि अग्नि नहीं जलाती तो क्या तुम ऐसी अपेक्षा रख सकते हो कि वह नहीं जलाएगी ?

अतः जब अपने दैनन्दिन जीवन के लिए सत्य इतना आवश्यक प्रतीत होता है, तो फिर अपने जीवन के सर्वांगीण दृष्टिकोण के लिए यह कितना महत्वपूर्ण होगा ! प्राचीन ऋषियों के शब्द उनके विवेक से प्रसूत हैं और हजारों वर्ष तक पीढ़ी दर पीढ़ी परीक्षित हुए हैं, अतः उन्हें भुला देने का फल दुःखदायी होगा।

११

जीवन के तीन सिद्धांत

आइए अब हम दूसरे आदेश पर गौर करें। वह है—'धर्मं चर' अर्थात् धर्म के अनुसार आचरण करो। यहाँ पर 'धर्म' शब्द को उससे व्युत्पत्तिक अर्थ लेना होगा —अर्थात् जिस प्रकार वह व्यक्ति पर प्रयुक्त होता है, पर साथ ही समाज को भी प्रभावित करता है। अपने ऋषियों द्वारा प्रदत्त विविध विधियों तथा व्यवस्थाओं में से तीन की हम यहाँ विशेष रूप से चर्चा करेंगे। इन्हें 'जीवन के सिद्धान्त' कहना कहीं अधिक उपयुक्त होगा। इन सिद्धान्तों में हमारे वर्त्तमान समाज की समस्याओं को हल करने की असीम सम्भावनाएँ निहित हैं। आज के समाज ने हल की हुई प्रत्येक समस्या के स्थान पर नयी नयी अनेक समस्याएँ उत्पन्न करके मानो अव्यवस्था उत्पन्न करने में दक्षता प्राप्त कर ली है।

'अहिंसा' और 'दया' शब्दों द्वारा अभिप्रेत सार्वलौकिक प्रेम जीवन का पहला सिद्धान्त है। घृणा से निपटने का यही सर्वश्रेष्ठ और सर्वाधिक सुरक्षित उपाय है। घृणा की भावना अधिकाधिक घृणा को जन्म देती है। हिंसा की भावना अधिकाधिक हिंसा की सृष्टि करती है। अतः जिस प्रकार अग्नि को अग्नि से नहीं अपितु जल से बुझाया जाता है, उसी प्रकार घृणा को भी प्रेम के द्वारा ही शान्त किया जा सकता है।

यातायात तथा दूरसंचार के अद्भुत साधनों के इस युग में, जबकि जगत् मानो सिमट सा गया है, यह देखकर विस्मय होता है कि व्यक्तियों में हिंसा और राष्ट्रों में युद्ध की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। परन्तु इस पर ज्यादा विस्मय करने की आवश्यकता नहीं क्योंकि कहते हैं—'युद्धों का जन्म लोगों के मन में ही होता है।'

हममें से हर कोई चाहता है कि मुझे स्नेह मिले, मेरी देखभाल की जाय मुझसे घृणा न हो और मुझ पर कोई अत्याचार न करे। यदि हम इस विषय में सचमुच ही गम्भीर हैं तो हमारा सबसे पहला कदम यह होगा कि हम अपने भीतर के समस्त घृणा तथा दुर्भावना को निकाल डालें और सबको सच्चे हृदय से प्यार करें। इसके फलस्वरूप क्रमशः हमारे चारों तरफ शान्ति का एक अद्भुत वातावरण विकसित हो जायगा और अपनी परिधि में आने वाले सभी लोगों को प्रभावित करेगा। यह कल्पना मात्र नहीं, सत्य है। श्रीरामकृष्ण, स्वामी विवेकानन्द अथवा रमण महर्षि जैसे महापुरुषों के सम्पर्क में आने का सौभाग्य पाने वाले सैकड़ों ने इस तथ्य को स्वीकार किया है।

'अस्तेय' (चोरी न करना) तथा 'अपरिग्रह' (उपहार न लेना) का लक्ष्यार्थ है लोभ का संयमन तथा निर्मूलन और उसके साथ ही सन्तोष का अभ्यास करना—जीवन का दूसरा सिद्धान्त है। हमारे समाज की अधिकांश आर्थिक समस्याएँ मूलतः लोभ के कारण ही जन्म लेती हैं ; फिर यह लोभ चाहे व्यक्तियों का हो, समुदायों का हो अथवा राष्ट्रों का। मानवीय लोभ के प्रत्यक्ष

फल के रूप में ही करोड़ों लोग दरिद्रता की चक्की में पीसे जाते हैं और इसी लोभ के चलते औद्योगिक इकाइयाँ अपने अवशिष्ट पदार्थों को जल तथा वायु में विसर्जित कर पर्यावरण में असन्तुलन पैदा करती हैं, जिसके परिणामस्वरूप असंख्य निरीह प्राणी अकाल और मृत्यु के शिकार होते हैं। अतः हमें चाहिए कि हम 'जो चीज हमारी नहीं है उसे न लेने की' तथा 'अपनी आवश्यकता से अधिक चीजें न संग्रह करने की' नीति का पालन करें और साथ ही इस ओर भी ख्याल रखें कि कहीं हम लोभवश या अपने स्वार्थ के लिए प्रकृति अथवा अन्य प्राणियों का शोषण तो नहीं कर रहे हैं। ऐसा होने पर हमें स्वर्ग का राज्य अभी और यहीं प्राप्त हो जायगा। और नहीं तो प्रयोग के तौर पर ही सन्तोष का अभ्यास तथा अपने जीवन पर इसका अद्भुत प्रभाव देख लो।

और अन्तिम तथा समान रूप से महत्त्वपूर्ण तीसरा सिद्धान्त है—कामनाओं पर नियंत्रण का सिद्धान्त, जिसे हम 'ब्रह्मचर्य' के नाम से भी जानते हैं। यदि चूल्हे में जलनेवाली आग को असीम स्वाधीनता मिल जाय तो वह अल्प काल में ही पूरे घर को जलाकर भस्म कर देगी। काम-शक्ति जीवों की वंशवृद्धि हेतु प्राप्त एक नैसर्गिक प्रवृत्ति है और यदि उसे असंयमित अभिव्यक्ति दी जाय तो वह जाति का विनाश कर डालती है। यौन बीमारियों का प्रसार, जीवन को खतरे में डालकर गर्भ-पात कराने की प्रथा और अवांछित बच्चों की भरमार जो बड़े होकर किशोरापराध एवं हिंसा में लिप्त होते है तथा अपराधी दलों में संगठित होते हैं—ये सब उक्त हिमशैल के छोर मात्र हैं। इसका सबसे बड़ा खतरा तो यह है कि यह व्यक्ति के व्यक्तित्व का और जाति की जीवनी-शक्ति का विनाश कर देता है।

क्या कभी कुत्तों में यौन रोग अथवा बिल्ली के बच्चों में किशोरापराध की बात सुनी गयी है? हम भी क्यों न जीव-जन्तुओं से भी दो-एक पाठ सीख लें?

यदि हमें इसकी उपलब्धि करनी है तो आधुनिक मानव समाज को अपनी जीवनधारा की दिशा ठीक करनी होगी। पूर्वप्रदत्त उदाहरण के अनुसार हम स्वयं ही अपना हाथ आग में डालकर, वह जला जा रहा है ऐसी शिकायत नहीं कर सकते। यदि विज्ञान और तकनीकी की अधुनातन खोजों द्वारा विकसित समस्त दृश्य-श्रव्य को निरन्तर मानव की क्षुद्र पाशविक कामनाओं की सन्तुष्टि में लगाकर उसे अधोगामी किया जाय, तो ऐसे समाज की भगवान ही रक्षा करें! या फिर यह भी सम्भव है कि वे भी इसे सुधारने के अयोग्य मानकर सरलतर मार्ग ही अपनावें अर्थात् इसका पूर्णतः विनाश करके नये सिरे से सृष्टिरचना करें! और चूँकि वे बड़े ही बुद्धिमान हैं, वे शायद हमें स्वयं ही अपना विनाश करने देंगे, ताकि उन पर दोषारोपण न किया जा सके। अस्तु, मानव जाति को अपने ही सर्वोच्च हित में, इस परम शक्तिशाली प्राकृतिक प्रवृत्ति के मूलभूत उद्देश्य पर आधारित एक सन्तुलित काम-व्यवस्था की ओर लौटना ही होगा।

१२

परम समाधान

यहाँ पर यह बता देना आवश्यक होगा कि हिन्दू धर्म ने जीवन की समस्त समस्याओं का एक परम समाधान प्रस्तुत किया है और वह है मोक्ष की संकल्पना। चूँकि हमारी सारी समस्याएँ देह-मन से ही उदित होती हैं, अतएव उनके परे चले जाना ही परम समाधान है। इसके फलस्वरूप न केवल दुःख-कष्ट से छुटकारा मिलता है, अपितु स्वच्छन्द आनन्द की भी प्राप्ति होती है। इसकी उपलब्धि के लिए 'योग' की विधि का विधान किया गया है।

१३

कुछ व्यावहारिक सुझाव

इस हिन्दू जीवन दर्शन को आधार बनाकर अब हम दैनन्दिन जीवन में पालनीय कुछ व्यावहारिक संकेत प्राप्त करेंगे।

(१) उचित भोजन और व्यायाम के द्वारा शरीर को स्वस्थ रखना होगा। इस दिशा में योगासन और सूर्यनमस्कार बड़े उपयोगी हैं। अति का सर्वत्र वर्जन करना चाहिए। आहार, निद्रा, भोग तथा कर्म व व्यायाम में भी सर्वत्र मध्य-पन्था का अनुसरण ही श्रेयस्कर है।

(२) कार्य में यथेष्ट कुशलता और योग्यता प्राप्त करने का प्रयास करो। परन्तु इस ओर अत्यधिक रुझान से यदि जीवन के अन्य आवश्यक क्षेत्रों में बाधा पड़ती हो, तो उसमें संयम बरतना ही उचित है। एक सुन्दर और शान्तिपूर्ण जीवन बिताकर, भावी आकस्मिक संकटों के लिए प्रावधान हेतु जितने धन की जरूरत है, उससे अधिक धनोपार्जन के लोभ पर अंकुश लगाओ। इसके अतिरिक्त यथासम्भव दूसरों की सहायता करने का प्रयास करो।

(३) दर्शन, तर्कशास्त्र तथा सामाजिक विज्ञानों के अल्पाधिक अध्ययन के द्वारा अपनी बुद्धि का विकास करो। परन्तु यहाँ भी वह आदर्शवाक्य स्मरण रहे—'अति सर्वत्र ही वर्जनीय है।' शुष्क तर्क-वितर्क और दर्शनमात्र बहुधा ईश्वर में विश्वास का नाश कर हानिकर सिद्ध होते हैं।

(४) कला की गुणग्राहकता—विशेषकर उच्चकोटि के संगीत, नृत्य, नाटक अथवा चित्रकला के रसास्वादन की क्षमता विकसित करो। ऐसी कलाएँ हमें उच्चतर सौन्दर्यानुभूति में उन्नति कर हमारे आध्यात्मिक विकास में सहायक होती है। साथ ही मन को अधोगति की ओर ले जाने वाली निकृष्ट प्रकार की कलाओं से निर्ममतापूर्वक दूर रहना होगा।

(५) प्रातःकाल और सध्या के समय प्रार्थना और ध्यान का अभ्यास करना परमावश्यक है। एक अति सहज विधि निम्नलिखित है—

मेरुदण्ड और सिर को सीधा रखते हुए पालथी मारकर बैठो। आँखें मूँद लो। अब एक ज्योतिर्मय प्रभामण्डल की कल्पना करो, उसके भीतर अपने को सर्वाधिक प्रिय लगनेवाले किसी भी देवी या देवता के जीवन्त और सचेतन रूप की कल्पना करो। यह स्मरण रहे कि यद्यपि इन देवताओं के नाम-रूप में भेद है तथापि उन सभी के पीछे एक ही परमेश्वर विद्यमान हैं। अपने देवता से जीवन की उत्कृष्ट वस्तुओं और विशेषकर उन गुणों के लिए प्रार्थना करो जो नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास में सहायक हैं। तब उनके रूप का ध्यान करने का प्रयास करते हुए उसके साथ ही कम से कम १०८ बार उनके नाम का जप करो। इस प्रक्रिया के उपसंहार के रूप में पुष्प और धूप के द्वारा अपने पूजाकक्ष में विराजित मूर्ति या चित्र की प्रत्यक्ष भाव से अथवा मानसिक रूप से छोटी सी पूजा करो।

देवता के नाम के स्थान पर सुयोग्य अधिकारी लोगों से सीखकर वेद के सुप्रसिद्ध गायत्री मंत्र को भी अपनाया जा सकता है।

(६) सार्वभौमिक प्रेम व दया, सन्तोष एवं लोभ-हीनता और कामनाओं का दमन—जीवन के तीन सिद्धान्तों को पालन करने का यत्नपूर्वक प्रयास करो। प्रतिदिन रात में सोने के पूर्व उस दिन की प्रगति का आकलन करने के लिए कुछ मिनट का समय देना आवश्यक है। असफलताओं से हताश न होकर बारम्बार चेष्टा करो। और भी बेहतर करने का संकल्प लेकर अगला दिन प्रारम्भ करो। साथ ही मन में बारम्बार यह भाव लाओ कि मैं प्रतिदिन सभी दृष्टियों से उन्नति करता जा रहा हूँ।

१४

निष्कर्ष

यह सब एक ममतामयी माँ की भावुकतापूर्ण सलाह मात्र नहीं हैं। ये बातें कितनी अच्छी हैं, यह तो तभी मालूम होंगी, जब तुम गम्भीरतापूर्वक इन्हें अपनाकर इनका अभ्यास करो।

जगत् को एक दिन में नहीं बदला जा सकता। परन्तु यदि सच्चे दिल से प्रयास करो तो तुम अपने जीवन को सुधार सकते हो और तब तुम्हें बोध होगा कि जगत् भी धीरे-धीरे सुधर रहा है। अतः पहले अपने से ही आरम्भ करो। साथ ही यदि कर सको तो अपने परिवार के सदस्यों तथा अन्तरंग मित्रों को भी प्रभावित करने की कोशिश करो।

बोलो, करोगे न ?

संसार को अपना बनाना सीखो

डॉ० बो० टी० आडवाणी
महासचिव
रामकृष्ण इन्स्टीच्यूट ऑफ कल्चर, कामठी, महाराष्ट्र

माँ सारदा के लीला-संवरण के पाँच दिन पहले उनके अति निकट की एक भक्त महिला 'अन्नपूर्णा की माँ' ने मानो अंतःप्रेरणा से अभिभूत होकर श्री श्री माँ से जीवन हेतु सार रूप में मार्गदर्शक उपदेश की याचना की। माँ के ये ही तीन वाक्य उनके अंतिम उपदेश संदेश के रूप में विश्व को, मानव को प्राप्त हुए है। उन्होंने कहा था—

"यदि तुम मन की शांति चाहती हो तो दूसरों के दोष मत खोजो बल्कि स्वयं अपने दोष देखो। सारे संसार को अपना बनाना सीखो। कोई भी अपरिचित नहीं है। सारा संसार तुम्हारा अपना है"।

इन्हें अंतिम संदेश केवल इसलिए नहीं कहा जाता है कि ये वचनामृत उनके जीवन की इहलीला के अंतिम दिनों में कहे गये तथा इसके बाद इस प्रकार की उनकी वाणी अथवा वार्तालाप उपलब्ध नहीं, पर इस अर्थ में भी ये 'अंतिम' हैं कि (१) ये चंद शब्द उनके जीवन पर अंतिम प्रामाणिक और पूर्णव्यापी 'भाष्य' हैं उनके जीवन और उपदेश का सारतत्व हैं तथा (२) मानव जीवन की परमोपलब्धि के विषय में अंतिम रूप से निर्णायक वक्तव्य। सम्पूर्ण आध्यात्मिक ज्ञान का असन्त व्यावहारिक निचोड़ है। इहलोक व परलोक दोनों संदर्भों में अंतिम शब्द Last word अर्थात इस उपदेश के के परिपालन के बाद और कुछ शेष नहीं रह जाता है, मनुष्य को परम तत्व की प्राप्ति हो जाती है।

जयरामबाटी ग्राम में रामचन्द्र मुखोपाध्याय के घर में अवतरित सारदामणि देवी बाल्यकाल से ही शीर्षोक्त आदर्श की जीती-जागती साक्ष्य थीं। ग्रामीण गरीबी के कष्टमय जीवन में भी सदा प्रसन्न, अल्पावस्था में कठोर परिश्रमशील जीवन बिताने में आनन्दानुभव, अकाल की अवस्था में अपने सुख-दुःख की जरा भी चिन्ता न करते हुए क्षुधा से पीड़ित लोगों को नन्हें हाथों से खिचड़ी खिलाकर स्वयं तृप्ति प्राप्त करना आदि दृष्टान्त यही प्रकट करते हैं कि आत्मरूप में सारा संसार हमेशा उनका अपना ही रहा है उनके लिये।

अवतरण (२२ दिसम्बर, १८५३) से लीला संवरण (२० जुलाई, १९२०) ६७ वर्ष की लम्बी अवधि में उन्होंने कष्ट ही कष्ट पाये, पर शिकवा-शिकायत का एक शब्द भी किसी के सुनने में नहीं आया। गीता के महान् आदर्श 'स्थित प्रज्ञा" में मानो वे सहज रूप से अवस्थित/प्रतिष्ठित थीं। कम उम्र में विवाह होकर भी सांसारिक सुख की इच्छा नहीं करतीं, वरन् श्रीरामकृष्ण को आश्वस्त करती हैं।

विवाह के बाद श्रीरामकृष्ण दक्षिणेश्वर में ईश्वर साधना में "पागल" हो जाते हैं। जयरामबाटी तक

अलग-अलग अफवाहें फैलती हैं। सारदाजी कानाफूसी की दया की पात्रा बनती हैं—"बिचारी"। ये सब मनोवेदनाओं के प्रसंग ६ से १४-१५ वर्ष की कच्ची उम्र में उनके लिए प्रस्तुत हुए थे। इस अवधि में दो बार पिता व गाँव के अन्य लोगों के साथ दक्षिणेश्वर की यात्रा में पतिदर्शन हेतु जाती हैं। दोनों बार की यात्रा पैदल, जंगलों व खेतों में से होती है। एक बार तेज बुखार से पीड़ित होकर एक कुटिया में आश्रय पाकर माँ काली के स्पर्श व दर्शन से स्वस्थ होती हैं। दूसरी बार एक डाकू का सामना होता है, परन्तु सारदाजी ने इतनी आन्तरिकता से उसे "पिता" कहकर पुकारा कि वह सचमुच पिता बनकर अपनी पत्नी सहित 'सारो' को अपने 'दामाद' श्रीरामकृष्ण के पास सादर पहुँचा आती है। यह था—"संसार को अपना बनाने का उनका आदर्श।

दक्षिणेश्वर में पहुँचकर, गाँव की अफवाहों के विपरीत, वे पाती हैं श्रीरामकृष्ण का विशुद्ध कामगंधहीन वात्सल्य। वे उन्हें ताप में पाकर सारदाजी की सुश्रुषा में लग जाते हैं। उनका तथाकथित पागलपन भी देखा, पर सांसारिक दृष्टि से निरक्षर, अपढ़ "सारो" आध्यात्मिक ज्ञान में प्रतिष्ठित होने के कारण अपने पति के ईश्वरानुराग को समझ पाती है और आनंदित व गौरवान्वित हो उठती हैं। श्रीरामकृष्ण उनसे पूछते हैं "क्या मुझे संसार में खींचने आयी हो? यदि हाँ तो तुम्हारा पूरा अधिकार है।" १८ वर्ष की 'सारो' ने जो उत्तर दिया वह तो एकदम उपनिषदों की मानो प्रतिध्वनि थी। उन्होंने कहा था "मैं आपको संसार में क्यों खींचने आऊँ, मैं तो आप की साधना में सहभागी होने के लिए आयी हूँ, आपके ही मार्ग में आप की अनुगामिनी बनने आयी हूँ। इस प्रसंग में याद करें याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी का संवाद। जब उपनिषद के ये ऋषि संसार त्याग के पूर्व अपनी पत्नी मैत्रेयी को उनके जीवनयापन हेतु धन आदि देने की बात करते हैं और मैत्रेयी का प्रत्युत्तर होता है— मुझे वही दीजिए जो ईश्वर प्राप्ति में सहायक हो।

और सारदाजी १८७२ से १८८५ ई० तक श्रीरामकृष्ण के महासमाधि में लीन होने तक सक्रिय रूप से 'अवतार संगिनी' बनती हैं। अपनी स्वयं की चिन्ता से सर्वदा व सर्वथा 'मुक्त' अपने सुख दुःख की किंचित् मात्र भी परवाह नहीं करती हुई, 'परमार्थ' में ही निमग्न रहती हैं। अवतार पुरुष की लीला सहधर्मिणी के रूप में श्रीरामकृष्ण की सेवा सुश्रुषा, खान-पान की व्यवस्था में 'पूजा' भाव से मग्न रहती हैं। नहबतखाने की तंग खोली में तेरह वर्ष रहती हैं। श्रीरामकृष्णदेव के पास आने-जाने वाले अनेक भक्तों के हेतु भोजन बनाती थीं। वह भी हरेक की रुचि अनुसार व स्वयं स्फूर्ति से; जप-तप और आध्यात्मिक साधना में लीन रहती थी; "लज्जापटावृता" होने के कारण अदृश्य रहकर ही दक्षिणेश्वर का जीवन बिताया। वहाँ के पुजारी ने कहा था 'माँ रहती है—सुना है, पर देखा कभी नहीं। पर किसी की देख-रेख, खान-पान में कमी नहीं। इस प्रकार अपने वात्सल्य द्वारा श्रीरामकृष्ण के भक्तों को अपना बनाया व श्रीरामकृष्ण संघ की सुदृढ़ नींव डाली। इस काल में संसार को अपना बनाने की उनकी प्रक्रिया गुप्त, सीमित थी। कभी-कभी ही विशेष प्रसंग में यह प्रक्रिया प्रकट हुई। भक्त संतानों पर श्रीठाकुर का अनुशासन कठोर था। किसे कितनी रोटी खानी है—यह भी निश्चित था। वात्सल्य से ओतप्रोत माँ उन्हें कभी अधिक खिला देती हैं; ठाकुर नाराज होते हैं; माँ वकालत करती हैं—बच्चे हैं, थोड़ा ज्यादा खिला दिया तो इतना उलाहना? ठाकुर साधना की दुहाई देते हैं। माँ कहती हैं—आप इसकी चिंता न करें। ठाकुर आश्वस्त हो जाते हैं। इस प्रकार ठाकुर की शिष्यमंडली उनके कठोर अनुशासन को माँ के वात्सल्यरूपी अनुपान व पथ्य के साथ ही आत्मसात् कर सकीं। माँ सब के लिए पान लगा रहीं हैं; ठाकुर के लिए सादा, अन्य लोगों हेतु इलायची आदि डालकर। एक भक्तमहिला इस पक्षपात का कारण पूछती है। उत्तर मिलता है—ठाकुर तो अपने हैं ही; दूसरों को अपना बनाना है। ठाकुर ने भी क्रमशः इन १४ वर्षों में उन्हें हर दृष्टि से

प्रशिक्षित किया—व्यवहारिकता में और अध्यात्मिकता में भी और उनपर आरोपित किया महान् उत्तरदायित्व —सांसारिक दुःखताप से पीड़ित जनों को शीतलता प्रदान करना, और भक्तों को 'संघ' रूप में संगठित करना और—श्रीरामकृष्ण १६ अगस्त १८८६ को लीला-संवरणकर महासमाधि में लीन होते हैं।

अब श्री श्री माँ विश्व के सामने भवतारिणी और संघजननी के रूप में प्रकट होती हैं। बिना रोकटोक, बिना देखे सुने, गुण-अवगुण की परवाह किये बिना, तापी-पापी के भेद किये बिना सब को सांत्वना देती हैं, मंत्र दीक्षा देती हैं, साधना का मार्गदर्शन करती है, और जिनसे कुछ भी नहीं बनता, जो निराश हो जाते हैं कि उनकी उन्नति कैसे होगी—उन्हें देती है माँ अपना अभय दान। कहती हैं, 'बेटा, डर किस बात का ? मैं हूँ—माँ जो हूँ।' 'कीचड़ में लिपटे हो तो भी आंचल से पोछ गोद में ले लूँगी।' 'माँ के रहते—मेरे रहते चिंता कैसी ?'

और भक्तों का तांता बंध जाता है चारों ओर से। माँ माँ की पुकार होती है। कभी कभार माँ बाहरी तौर से परेशान हो उठती हैं, परन्तु दूसरे ही क्षण उद्विग्न हो उठती हैं कि किसी तप्त जीव को उनके पास क्यों नहीं पहुँचने दिया जाता। एक ओर पूजित हो रहीं थी तो दूसरी ओर कुटुम्बियों द्वारा पीड़ित/त्रसित भी। पर उनका सदैव समभाव सबको आश्चर्यचकित कर देता है। बाहरी रूप में एकदम सांसारिकता में मानो जकड़ी हुई, सब कामों को साधारण सामान्य महिला की भांति करती हुई, आंतरिक रूप से अद्वैत भाव में पूर्णरूपेण प्रतिष्ठित रहीं। तभी तो ठाकुर उनके बारे में कहते हैं—"वह सारदा है—सरस्वती है, ज्ञान देने हेतु आई है।" ठाकुर का महान उपदेश कि 'आंचल में अद्वैत ज्ञान बाँधकर संसार के सारे कार्य करो"— माँ के जीवन की प्रत्येक घटना में मूर्तरूप हो उठा था। एक तुच्छ झाड़ की उपेक्षा होते वे न देख सकीं। बर्तन के पटके जाने पर उसकी झंकार से वे सिहड़ उटीं, वेदना से। बोझा ढोकर लाने वाली महिला को सिर में तेल लगाकर, साफ-सुथरा कर भेजती हैं। पगली को पथभ्रष्टा को—सबको उनका स्नेह प्राप्त होता है। मुसलमान मजदूर व डाकू अमजद को स्नेहपूर्वक खिलाती हैं, उसकी पत्तल स्वयं उठाती हैं; १९वीं सदी की जाति प्रथा को चुनौती देते हुए और घोषित करती है, 'मेरे लिए अमजद और शरत् एक ही हैं।' शरत् याने स्वामी सारदानन्द महाराज, रामकृष्ण के ईश्वरकोटि के दिग्गज शिष्य, विद्वान्, लेखक, रामकृष्ण मठ और मिशन के प्रथम महासचिव, विश्वविजयी स्वामी विवेकानन्द के गुरुभाई व अमजद को, एक मजदूर को समभाव से स्नेहसिंचित कर सारे संसार को अपना बनाने। समझने के आदर्श का, अद्वैतभाव का उच्चकोटि का उदाहरण माँ ने हम सब के निकट रखा।

अतः अन्तिम दिनों में, अन्तिम उपदेश में, मानो श्री श्री माँ स्वयं के जीवन की साररूप में अन्तिम व प्रामाणिक व्याख्या हमें दे गयीं।

दूसरे अर्थ में यही उपदेश हमारी आध्यात्मिक साधना का उच्चतम ध्येय है। अन्तिम लक्ष्य है। आत्मविकास का यही मार्ग है कि क्रमशः हम देह-बुद्धि का त्याग करें, सब में ईश्वरानुभूति करें, संकीर्ण स्वार्थ से हटकर सारे संसार में "ईशावास्यमिदं सर्वं" की अनुभूति कर शिष्ट-दुष्ट, तापी-पापी, ऊँच-नीच आदि भेदभाव से मुक्त हों, कष्ट में भी सुख पावें, कष्ट देने वालों का भी दोष न देखें, क्योंकि सब 'वे' ही हुए हैं, ईश्वर ही सब जीवों में अपनी लीला कर रहे हैं—तत् त्वमसि, सोहं (वही मैं हूँ), अहं ब्रह्मास्मि-अर्थात् मैं ही ब्रह्म हूँ। यह हुआ प्रभु के विराट स्वरूप का दर्शन।

माँ सारदा के जीवन व संदेश से हमें प्रत्यक्ष बताया गया है कि इस अद्वैत ज्ञान का दैनंदिन जीवन में हम कैसे परिपालन करें। भारत में सदियों से उपनिषदों में, वेदान्त में जो "वसुधैव कुटुम्बकम्" का परमादर्श प्रस्तुत हुआ है, उसका जीवन्त भाष्य श्री माँ ने अपने जीवन के माध्यम से विश्व को दिया है। पौष कृष्णा सप्तमी तिथि माँ सारदा की जन्म तिथि है। उनके श्री चरणों में यह भावांजलि अर्पित है।

मानव-वाटिका के सुरभित पुरुष

—शरद् चन्द्र पेंढारकर, एम. ए.

(१) तुम्हारी चाह में प्रभु मेरा कल्याण

समर्थ रामदास का अम्बादास नामक एक शिष्य था। उसकी भक्ति और सेवाभाव से रामदास उस पर प्रसन्न थे, किन्तु, दूसरे शिष्यों को यह बात खलती थी। एक दिन मध्याह्न समय समर्थ ने उसे बुलाकर कहा, "जाओ, सामने के बिल्ववृक्ष की शाखा पर बैठकर उस शाखा को आरी से काट लाओ।" शिष्यों ने सुना, तो उन्हें यह आदेश जरा विचित्र मालूम हुआ, क्योंकि वैसा करने से अम्बादास नीचे के कुएँ में जा गिरता। उन्होंने उसे सलाह दी कि वह दूसरी शाखा पर बैठकर उस शाखा को लाए। किन्तु अम्बादास बोला "मैं तो गुरुदेव की आज्ञा का पालन करूँगा।" और हुआ भी वैसा ही। ज्योंहीं शाखा कटने को आयी कि वह धड़ाम से कुएँ में जा गिरा।

कुएँ में गिरते ही अम्बादास ने आँखें बन्द कर लीं और वह प्रभु का स्मरण करने लगा। थोड़ी देर बाद जब उसने आँखें खोलीं, तो उसे जल तो कहीं नहीं दिखायी दिया, बल्कि साक्षात् रघुवंशशिरोमणि श्रीरामचन्द्रजी को प्रसन्न मुद्रा में सामने खड़े पाया। उनके दर्शन से वह गद्गद हो गया और उसकी आँखें अश्रुविह्वल हो गयीं। भक्ति भाव से उसने उन्हें साष्टांग प्रणाम किया ही था कि उपर से आवाज सुनायी दी, "अम्बादास कैसे हो?" बात यह थी कि अम्बादास के गिरने की आवाज सुन शिष्य गुरु को लेकर वहाँ पहुँच गये थे और सन्त ने आवाज लगायी थी।

गुरु की आवाज सुनते हीं अम्बादास उठने लगा. लेकिन प्रभु अन्तर्धान हो गये थे। उसने वहीं से उत्तर दिया, "गुरुजी, आपकी कृपा से कल्याण है।" और वह ऊपर निकल आया। गुरुदेव उससे बोले, "सचमुच तू आज्ञाकारी शिष्य है। आज से तेरा नाम अम्बादास नहीं, कल्याण हो गया!"

(२) खुदा की बस्ती दुकां नहीं है

सन्त इब्राहीम फकीर बनने के बाद शहर से दूर एक झोपड़ी बनाकर रहने लगे। लोग जब वहाँ से जाते, तो उनसे बस्ती का रास्ता पूछते। तब वे सामने के रास्ते की ओर इशारा करते। जब कोई पूछता, "क्या यह दूसरा रास्ता बस्ती को नहीं जाता?" तो वे कहते, "नहीं, यह नहीं, यह नहीं जाता।" लेकिन वे लोग जब उनके बतायें रास्ते से आगे बढ़ते, तो श्मशान में पहुँच जाते। आखिर लौटकर मन ही मन सन्त को कोसते हुए दूसरे रास्ते आगे बढ़ जाते।

लेकिन एक दिन एक मुसाफिर को गुस्सा आ गया और उसने लौटकर सन्त को बुरा-भला कहना शुरू किया। तब इब्राहीम शान्त भाव से बोले, "अरे भाई, मरघट क्या बस्ती नहीं है? तुम जिसे 'बस्ती' कहते हो, वहाँ रोज एक न एक मौत होती रहती है, तब वह घर क्या उजड़ नहीं जाता? उन उजड़े घरों से ही तो मरघट में बस्ती बन गयी है। लेकिन इस बस्ती में जो एक बार बस गया, वह हमेशा के लिए वहाँ बस जाता है। उसे वहाँ से हटने की जरूरत नहीं होती। इसलिए क्या यह बस्ती नहीं हुई? मैंने इसीलिए तुम्हें बस्ती का रास्ता बताया था, लेकिन तुम बुरा मान गये।" यह सुन मुसाफिर चुप हो गया और बिना कुछ बोले वह दूसरे रास्ते से आगे बढ़ गया।

दुःख निवृत्ति के उपाय

स्वामी ज्ञानातीतानन्द
रामकृष्ण आश्रम, राजकोट (गुजरात)

संसार के सभी प्राणी जन्म-मृत्यु जरा व्याधि, शोक, मोह, आदि दुःखों से सर्वदा ग्रस्त हैं। संसार का कोई भी प्राणी दुःख प्राप्त नहीं करना चाहता। मनुष्य चिन्तनशील प्राणी है अतः वह दुःखों को दूरकरने का उपाय जानना चाहता है। संसार को सभी धर्म एवं महापुरुष दुःख दूर करने के उपाय बतलाते हैं। यदि हमें दुःख दूर करने का उपाय ज्ञात हो तो हम अपना तथा अन्य का दुःख दूर कर सकते हैं। दुःखों के दूर होने से स्वतः ही आनन्द की प्राप्ति हो जायगी।

दार्शनिक प्रश्नों के पूछने पर भगवान बुद्ध कहते थे, मान लो एक व्यक्ति को तीर लगा है, रक्त बह रहा है तो क्या वह व्यक्ति यह चिन्तन करेगा कि तीर किसने मारा? तीर कितनी दूर से मारा गया? तीर किस धातु का बना है? अथवा वह तीर को निकालने का प्रयास करेगा। ये दार्शनिक प्रश्न भी उसी प्रकार हैं। संसार के मनुष्य दुःखों में जल रहे हैं। अतः किस तरह उनका दुःख दूर किया जाय यह उपाय खोजना चाहिए। और उन्होंने वह उपाय खोजा और संसार को उसका उपदेश दिया जिससे अनगिनत लोगों के दुःख दूर हुए।

प्रस्तुत निबन्ध में भगवान वेदव्यास द्वारा दुःख निवृत्ति के उपाय बताये गये हैं।

'रोग अप्रिय घटनाओं की प्राप्ति, अधिक परिश्रम तथा प्रिय वस्तुओं का वियोग—इन चार कारणों से शारीरिक दुःख प्राप्त होता है।

'समय पर उन चारों कारणों का प्रतिकार करना एवं कभी भी उनका चिन्तन न करना—ये दो क्रियायोग (दुःख निवारक उपाय) हैं। इन्हीं से व्याधि-व्याधि को शान्ति होती है।

'अतः बुद्धिमान् तथा विद्वान पुरुष प्रिय वचन बोल कर तथा हितकर भोगों की प्राप्ति करा कर पहले मनुष्यों के मानसिक दुःखों का ही निवारण किया करते हैं।

'क्योंकि मन में दुःख होने पर शरीर भी संतप्त होने लगता है; ठीक वैसे ही, जैसे तपाया हुआ लोहे का गोला डाल देने पर घड़े में रक्खा हुआ शीतल जल भी गरम हो जाता है।"

'इसलिए जल से अग्नि को शान्त करने की भांति ज्ञान के द्वारा मानसिक दुःख को शान्त करना चाहिए। मन का दुःख मिट जाने पर मनुष्य के शरीर का दुःख दूर हो जाता है।

'मन के दुःख का मूल कारण क्या है? इसका पता लगाने पर 'स्नेह' (संसार में आसक्ति) की ही उपलब्धि होती है। इसी स्नेह के कारण ही जीव कहीं आसक्त होता और दुःख पाता है।

दुःख का मूल कारण है आसक्ति। आसक्ति से ही भय होता है। शोक, हर्ष तथा क्लेश—इन सबकी प्राप्ति भी आसक्ति के कारण ही होती है। आसक्ति से ही विषयों में भाव और अनुराग होते हैं। ये दोनों ही अमंगलकारी हैं। इनमें भी पहला अर्थात् विषयों के प्रति भाव महान अनर्थकारक माना गया है।

'जैसे खोखले में लगी हुई आग सम्पूर्ण वृक्ष को मूल-सहित जलाकर भस्म कर देती है, उसी प्रकार विषयों

के प्रति थोड़ी-सी भी आसक्ति धर्म और अर्थ दोनों का नाश कर देती है।

विषयों के प्राप्त न होने पर जो उनका त्याग करता है, वह त्यागी नहीं है; अपितु जो विषयों के प्राप्त होने पर भी उनमें दोष देखकर उनका परित्याग करता है, वस्तुतः वही त्यागी है, वही वैराग्य को प्राप्त होता है। उसके मन में किसी के प्रति द्वेषभाव न होने के कारण वह निर्वैर तथा बन्धनमुक्त होता है।

'इसलिए मित्रों तथा धनराशि को पाकर इनके प्रति स्नेह (आसक्ति) न करें। अपने शरीर से उत्पन्न हुई आसक्ति की ज्ञान से निवृत्ति करें।

जो ज्ञानी, योगयुक्त, शास्त्रज्ञ तथा मन को वश में रखनेवाले हैं, उनपर आसक्ति का प्रभाव उसी प्रकार नहीं पड़ता, जैसे कमल के पत्ते पर जल नहीं ठहरता।

'राग के वशीभूत हुए पुरुष को काम अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। फिर उसके मन में कामभोग की इच्छा जाग उठती है। तत्पश्चात तृष्णा बढ़ने लगती है। तृष्णा सबसे बढ़ कर पापिष्ठ (पाप में प्रवृत्त कराने वाली) तथा नित्य उद्वेग करने वाली बतायी गयी। उसके द्वारा प्रायः अधर्म ही होता है। वह अत्यन्त भयंकर पाप-बन्धन में डालने वाली है।

'खोटी बुद्धिवाले मनुष्यों के लिए जिसे त्यागना अत्यन्त कठिन है, जो शरीर के जरा से जीर्ण हो जाने पर भी स्वयं जीर्ण नहीं होती तथा जिसे प्राणनाशक रोग बतलाया गया है, उस तृष्णा को जो त्याग देता है, उसी को सुख मिलता है।

'यह तृष्णा यद्यपि मनुष्यों के शरीर के भीतर ही रहती है, तो भी इसका कहीं आदि अन्त नहीं है। लोहे के पिण्ड की आग के समान यह तृष्णा प्राणियों का विनाश कर देती है।

'जैसे काष्ठ अपने से ही उत्पन्न हुई आग से जलकर भस्म हो जाता है, उसी प्रकार जिसका मन वश में नहीं है, वह मनुष्य अपने शरीर के साथ उत्पन्न हुए, लोभ के द्वारा स्वयं नष्ट हो जाता है।

'धनवान मनुष्य को राजा, जल, अग्नि, चोर तथा स्वजनों से भी सदा उसी प्रकार भय बना रहता है, जैसे सब प्राणियों को मृत्यु से।

'जैसे मांस के टुकड़े को आकाश में पक्षी, पृथ्वी पर हिंस्र जन्तु तथा जल में मछलियाँ खा जाती हैं, उसी प्रकार धनवान पुरुष को सब लोग सर्वत्र नोचते रहते हैं।

कितने ही मनुष्यों के लिए अर्थ ही अनर्थ का कारण बन जाता है; क्योंकि अर्थ द्वारा सिद्ध होने वाले श्रेय (सांसारिक योग) में आसक्त मनुष्य वास्तविक कल्याण को प्राप्त नहीं होता।

'इसलिए धन-प्राप्ति के सभी उपाय मन में मोह बढ़ाने वाले हैं। कृपणता, घमण्ड, अभिमान, भय, और उद्वेग—इन्हें विद्वानों ने देहधारियों के लिए धनजनित दुःख माना है। धन के उपार्जन, संरक्षण तथा व्यय में मनुष्य महान दुःख सहन करते हैं और धन के ही कारण एक दूसरे को भी मार डालते हैं। धन को त्यागने में भी महान दुःख होता है और यदि उसकी रक्षा की जाय तो वह शत्रु का सा काम करता है (धन के लोभ से मनुष्य रक्षक की हत्या कर डालते हैं)

'धन की प्राप्ति भी दुःख से ही होती है। इसलिए उसका चिंतन न करें; क्योंकि धन की चिन्ता करना अपना नाश करना है। मूर्ख मनुष्य सदा असन्तुष्ट रहते हैं और विद्वान् पुरुष संतुष्ट।

मन की प्यास कभी बुझती नहीं है; अतः सन्तोष ही परमसुख है। इसीलिए ज्ञानीजन सन्तोष को ही सबसे उत्तम समझते हैं। (शेष पृष्ठ ३० पर)

(कहानी)

नचिकेता

— स्वामी विवेकानन्द

(हिन्दू शास्त्रों में वेद का स्थान सर्वोपरि है। वेद के चार भाग हैं :—ऋग, साम, यजु एवं अथर्व। यजुर्वेद के कठोपनिषद में नचिकेता की कहानी है। स्वामीजी ने अमेरिका में एक वक्तृता देते वक्त नचिकेता की कहानी का उल्लेख किया था।)

उद्दालक नामक एक ऋषि थे। एक दिन उन्होंने एक विराट यज्ञ प्रारम्भ किया। इस यज्ञ का नाम था विश्वजीत यज्ञ। इस यज्ञ के शेष में दान देने की प्रथा प्रचलित थी। ऋषि उद्दालक ने असंख्यक गायों को दान देने हेतु लाया था। इसके अतिरिक्त प्रचुर धन-सम्पत्ति भी उन्होंने दान की।

ऋषि उद्दालक का एक पुत्र था। उसका नाम था नचिकेता। बालक होते हुए भी नचिकेता बुद्धिमान था एवं उसके अन्तर में ज्ञान कूट-कूट कर भरा हुआ था। यज्ञ जब प्रारम्भ हुआ तब यज्ञ देखने के लिए नचिकेता ने यज्ञ-मंडप में प्रवेश किया। यज्ञ कुण्ड विराट् था। कुण्ड के चारों ओर अनेक ऋषि बैठकर यज्ञ कर रहे थे। एक ओर अनेक ब्राह्मण बैठकर मधुर स्वर में वेद पाठ कर रहे थे। यज्ञ में दक्षिणास्वरूप अनेक गायों को लाया गया था। नचिकेता घूम-घूम कर सब कुछ देख रहा था। यज्ञ की विधियों को देख उसके अन्तर में श्रद्धा-भावना पैदा हुई।

यज्ञ में सभी दानों की अपेक्षा गोधन श्रेष्ठ हैं। उद्दालक कृपण थे। दान के वक्त उन्होंने सारी वृद्धा गायों को घुन-घुस कर लाया। नचिकेता ने जब इन गायों को देखा तब उसे बड़ा दुःख हुआ। उसने सोचा "इन गायों को जो शीघ्र ही मृत्यु को प्राप्त होनेवाली है, दानकर मेरे पिता पुण्य के स्थान पर पाप ही करेंगे। परन्तु पिता का जैसा स्वभाव है, वे अब परिवर्तन न करेंगे। फिर भी मेरा जो कर्तव्य है, मैं उसे करूँगा। पिता ने अपनी सम्पत्ति दान में दी है, मैं भी तो उन्हीं की सम्पत्ति हूँ। मुझे भी उन्हें किसी को दान करना चाहिए।"

उद्दालक तब यज्ञ कार्य में व्यस्त थे। नचिकेता ने जाकर पूछा, "पिताजी, आपने मुझे दान में दिया है?"

उद्दालक ने कहा, जाओ, अभी मुझे परेशान न करो।"

नचिकेता चला गया। परन्तु पिता के दान की बात बार-बार उसके मन में खटकने लगी। फिर उसने जाकर पिता से पूछा "पिताजी, आपने मुझे किसको दान में दिया है?"

उद्दालक ने क्रोधित होकर कहा, "तुम तो बड़े शरारती हो। यहाँ से अभी चले जाओ" बालक नचिकेता चला गया।

चारों ओर यज्ञ की धूम मची हुई थी। परन्तु नचिकेता के मन में शान्ति नहीं थी। वह सदा सोच रहा था, "क्या दान मेरे पिता कर रहे हैं? यदि वे मेरे ऊपर क्रोधित हैं, फिर भी वह उचित है कि वे मुझे दान में दे दें।

फिर साहस करके नचिकेता पिता के पास गया एवं उसने प्रश्न किया "पिताजी, आपने मुझे किसे दान में दिया है?"

पुत्र की बातों पर उद्दालक को अत्यन्त क्रोध आया। बार-बार तंग करने पर वे क्रुद्ध हो गये एवं उन्होंने कहा, "नचिकेता, मैंने तुम्हें यम को दान में दे दिया।"

पिता क्रोधित हो गये हैं, यह देखकर नचिकेता धीरे-धीरे दूसरी ओर चला गया। पिता की बातों पर सोचते हुए धीरे-धीरे नचिकेता आगे बढ़ रहा था। नचिकेता के मन में यह विश्वास था कि वह एक अच्छा लड़का है। उसने सोचा, "हो सकता है कि अनेक के बीच मैं मध्यम दर्जे का बालक हूँ, परन्तु फिर अनेक के बीच में उत्तम भी हो सकता हूँ। परन्तु मैं सबसे अधम हूँ—यह नहीं हो सकता। पिता ने मुझे यम को दान में दिया है। अभी मेरा कर्तव्य क्या है? पिता के आदेश का उल्लंघन करना मुझे शोभा नहीं देगा। इसलिए मुझे यम के पास जाना ही पड़ेगा। पिता के वचन का पालन मुझे करना ही पड़ेगा।',

यम लोक तक पहुंचना उतना आसान नहीं होता। मृत्यु के पूर्व कोई वहाँ नहीं पहुंच सकता। बहुत सोच-समझ कर नचिकेता ने यम लोक की ओर यात्रा प्रारम्भ की। मृत्यु को वरण करने के पश्चात् लोग यमलोक पहुंचते हैं, फिर किसी दूसरे मार्ग से वहाँ नहीं जाया जा सकता। किसी भी तरह वह यमलोक पहुंचे यह बात सर्वंशः सही है कि यमराज के यहाँ पहुंचने में नचिकेता को कुछ कष्ट अवश्य उठाने पड़े होंगे। बहुत दुःख-कष्ट भोग कर नचिकेता वहाँ तक पहुंच सका था।

यमराज मृत्यु के राजा हैं। सभी मनुष्यों का अंतिम न्याय वे ही करते हैं। संसार में मानव जो कुछ करता है, जो कुछ सोचता है वह सब यम के पास लिखित रहता है। मनुष्य की मृत्यु के उपरांत यमदूत आकर उसे यमलोक ले जाते हैं। तब चित्रगुप्त को बुलाया जाता है। चित्रगुप्त यमराज के एक कर्मचारी हैं। वे अपना विशाल लेखा-जोखा लेकर दरबार में हाजिर होते हैं। यमराज तब उस मनुष्य के पाप एवं पुण्यों का हिसाब करते हैं। उनके आदेशानुसार पुण्यात्मा स्वर्ग को और पापी नरक में जाते हैं। स्वर्ग में जैसा सुख है, नरक में वैसा ही दुःख।

नचिकेता यम के दरवाजे पर हाजिर हुआ। सामने विराट राजमहल था एवं अनेक दास-दासी, अनुचर घूम रहे थे। यम के अनुचरों ने देखा कि द्वार पर एक ब्राह्मण बालक खड़ा है, ठीक जैसे प्रभात का सूर्य आकाश छोड़ यम के द्वार पर आ खड़ा हो। नचिकेता के अति तेजोमय चेहरे को देख कोई आगे नहीं बढ़ सका। कोई किसी को जाने को कह रहा था तो कोई और किसी को। साहस करके अन्ततः एक अनुचर आगे बढ़ा। नचिकेता ने उससे कहा 'मुझे यमराज से मिलना है, मुझे उनके पास ले चलो।"

हाथ जोड़कर यमदूत ने कहा, "वे एक विशेष कार्य के लिए अन्यत्र गये हैं, कब लौटेंगे, ठीक नहीं है। आप कृपा करके अंदर आइए, हम आपके रहने-खाने का प्रबन्ध कर देते हैं।"

नचिकेता ने उत्तर दिया, "नहीं, नहीं, घर के मालिक जब घर में नहीं है, तब वहाँ वास करना या भोजन करना उचित नहीं।"

यमदूत ने अनेक अनुनय-विनय की, परन्तु नचिकेता ने स्वीकार नहीं किया। एक दिन बीत गया, परन्तु यमराज नहीं आये। दूसरा दिन भी बीत गया, तीसरा भी इसी तरह बीत गया परन्तु यमराज के कहीं दर्शन नहीं। तीन दिन बाद यमराज लौटे।

यमराज को घर लौटते देख, यमदूत व्यस्त हो गये एवं उन्होंने जाकर कहा, प्रभात के सूर्य की भाँति तेजोमय एक ब्राह्मण बालक आज चार दिनों से द्वार पर खड़ा है। हमलोगों ने कितना अनुरोध किया परन्तु उसने न अन्दर आना स्वीकार किया न खाना खाया। तीन दिन से वह वहीं बैठा है। एक बिन्दु जल भी ग्रहण नहीं किया है। उसने हमसे कहा कि जबतक मालिक घर पर नहीं होता तबतक उसके घर में आहार करना या वास करना उचित नहीं।"

यह सुनकर यमराज तुरन्त नचिकेता के पास गये एवं उन्होंने पूछा, "हे ब्राह्मण-बालक तुम कौन हो? मैं घर में नहीं था। तुमने तीन दिन उपवास की अवस्था में बाहर बिताये हैं। अतिथि का अनादर महा पाप होता है। अतिथि देवता, अब आप संतुष्ट होकर मेरा निवेदन स्वीकार कीजिए।"

नचिकेता ने यम को नमस्कार किया। एवं अपना परिचय देते हुए यमालय तक आने की कहानी सुनायी। इसके बाद नचिकेता ने यम के महल में प्रवेश किया। नचिकेता के तेजोमय रूप एवं सरल मिष्ट बातें सुन यमराज बड़े खुश हुए। यम ने कहा, "तुम एक ब्राह्मण संतान हो, और मेरे अतिथि भी। मेरे घर में आकर तुमने कितना कष्ट सहा है। तुमने मेरे लिए तीन दिनों तक अनाहार प्रतीक्षा की, इसलिए मैं तुम्हें तीन वर दूँगा। तुम्हें जो चाहिए मांग लो।"

नचिकेता ने कहा, "यमराज, आपने कृपा करके मुझे तीन वर मांगने का अवसर प्रदान किया है, मैं अवश्य मागूँगा। मेरे पिता ने क्रोधित होकर मुझे आपको दान में दे दिया है। उनका क्रोध शांत हो जाए। मैं जब आप के पास से लौटूँ तो वे मुझे पहचान पाएँ एवं पूर्व की भाँति ही मुझे प्यार करें। यही प्रथम वर मैं मांग रहा हूँ।"

यम ने कहा, "तथास्तु। अब तुम द्वितीय वर मांगो।"

नचिकेता ने कहा, "मैंने सुना है स्वर्ग में भय नाम की कोई वस्तु है। वहाँ आप भी अपना अधिकार नहीं विस्तार कर सकते। वहाँ रहने वालों को रोग नहीं होता न ही जरा का प्रभाव उन पर पड़ता है। किस प्रकार वह स्वर्ग, प्राप्त किया जा सकता है। यह बताइए, यही मेरा दूसरा वर मांगना है।"

यम को थोड़ा आश्चर्य हुआ परन्तु उन्होंने उस यज्ञ की बात जिससे स्वर्ग प्राप्त किया जा सकता है बतायी। किस प्रकार अग्नि-स्थापन करना होता है, यज्ञ वेदों में किती इंटों को सजाना पड़ता है, कौन-सा मंत्र पढ़कर उपासना करनी पड़ती है, सब कुछ नचिकेता को बताया। उसके बाद उन्होंने पूछा, "मैंने जो कुछ कहा है वह सब तुम्हें याद रहेगा? बोलो तो, जो-जो बातें मैंने कही हैं।"

नचिकेता के मन में अद्भुत क्षमता थी। वह बड़े ही सुन्दर ढग से सब कुछ कह गया। सुनकर यम अवाक्। उन्होंने कहा, "वत्स मैं अत्यन्त प्रसन्न हूँ। इस कठिन विषय को तूने कण्ठस्थ कर लिया एवं उसे मुझे सुना भी दिया। इसके पुरस्कार-स्वरूप आज से इस अग्नि का नाम होगा—नचिकेता-अग्नि। तुम तीसरा वर मांगो।"

नचिकेता बालक होने पर भी अत्यन्त ज्ञानी था। कभी-कभी संसार में कुछ ऐसे महापुरुष जन्म लेते हैं जो अल्प-काल में ही इतनी बुद्धि एवं ज्ञान का परिचय देते हैं, जो साधारण व्यक्ति वृद्ध हो जाने पर भी नहीं दे सकता।"

तृतीय वर मांगने वक्त नचिकेता ने कहा, "कोई-कोई कहते हैं कि मृत्यु के बाद भी आत्मा रहती है और कोई कहते हैं कि मृत्यु के बाद कुछ नहीं रहता। मृत्यु के पश्चात् मानव की आत्मा रहती है या नष्ट हो जाती है—इस आत्म-विद्या की शिक्षा आप मुझे दीजिए।"

आत्म-विद्या सीखने की इच्छा नचिकेता को सचमुच है या नहीं और उस विद्या को सीखने की शक्ति उसमें है या नहीं—यह देखने के लिए यम ने उसकी परीक्षा लेनी शुरू की।

यम ने कहा, "वत्स, जो प्रश्न तुमने पूछा है वह बड़ा कठिन है। देवताओं के मन में भी यही प्रश्न उठता है। तुम क्यों इस कठिन प्रश्न को पूछ रहे हो? तुम दूसरा वर मांगो—जैसे दीर्घ काल तक बचे रहना, पुत्र-पुत्री लाभ करना, अनेक धन-राज्य-हाथी घोड़ा-रथ आदि प्राप्त करना। इन्हीं वस्तुओं को मनुष्य चरम सुख की वस्तु मानता है। इन सबों के मध्य तुम्हें जो इच्छा हो मांगो। मेरी बात सुनो मृत्यु के बाद की बात मत पूछो।"

संसार की यह रीति है, कोई महत् कार्य करने के पूर्व अनेक बाधाएँ आती हैं, प्रलोभन आते हैं। जिनका मन बाधाओं एवं प्रलोभनों के समक्ष परास्त हो जाता है, वे सफल नहीं हो सकते। जो जगत् में ख्याति लाभ करते हैं वे बाधाओं-प्रलोभनों के सामने नहीं झुकते, पृथ्वी के इतिहास में इन्हीं का नाम स्वर्णाक्षरों से लिखा जाता है।

नचिकेता के सामने तब सचमुच बड़ी विपत्ति उपस्थित हुई। एक ओर चरम सांसारिक सुख और एक ओर आत्म-ज्ञान। नचिकेता क्या मांगे? धीरे-धीरे उसने कहा, "मुझे पता है महाराज, आपके चाहने से ही मुझे सारी पृथ्वी का धन-जन-मणि-राज्य-सिंहासन सभी मिल जाएँगे। और जब आप हैं, मैं मरूँगा भी नहीं। परन्तु उसके बाद आज ही या उसके दो सौ या दो हजार वर्ष बाद ही हो—ये सारे सुख चले जायेंगे। मैं यह सब नहीं चाहता। जब देवताओं के मन में भी आत्मा के विषय में प्रश्न जाता है, तब आप-सा गुरु मैं कहाँ पाऊँगा? आप मृत्यु के राजा हैं, मृत्यु की बात ही मुझे बताइए। यही मेरी तृतीय वर-याचना है।"

यम तब पुनः पृथ्वी के नाना सुखों की चर्चा करने लगे। परन्तु नचिकेता अडिग रहा। अन्ततः अनेक परीक्षाओं के बाद यम ने उसे आत्म-विद्या की शिक्षा दी।

नचिकेता की कहानी से हम सिर्फ आत्म-ज्ञान की शिक्षा पाते हैं, यह नहीं है और एक महत् बात हम नचिकेता के पास से सीखते हैं। श्रद्धा किस प्रकार मनुष्य को साहसी बनाती है, किस प्रकार बलवान होने के लिए तेज ने सहायता की, किस प्रकार उसे आत्मविश्वासी बनाया। स्वामीजी इसी श्रद्धा पर बल देते थे। बच्चों से लेकर बूढ़ों तक—सभी को नचिकेता के आदर्श का पालन करते की सलाह देते थे। बलहीन, साहसहीन, आत्मविश्वासहीन मनुष्य कहीं स्थान नहीं पाता है। भय ही मनुष्य को शक्ति-हीन करता है। मृत्यु का भय बाकी सारे भयों से बड़ा है। मृत्यु भय जिसे नहीं है उसे जगत् का कोईभय नहीं हो सकता। नचिकेता ने जिस प्रकार बचपन में ही निर्भीकतापूर्वक मृत्यु से साक्षात्कार किया, मृत्यु के देवता यमराज को संतुष्ट कर उनसे आत्मज्ञान प्राप्त किया, वही आदर्श हमें भी अपनाना पड़ेगा।

संसार में कोई अमर नहीं है, सभी मरणशील हैं एक महत् उद्देश्य की प्राप्ति के लिए जो मृत्यु को वरण करते हैं, केवल वे ही अमर होते हैं।

★

(पृष्ठ २६ का शेषांश)

'यौवन रूप जीवन, रत्नों का संग्रह, ऐश्वर्य तथा प्रियजनों का एकत्र निवास—ये सभी अनित्य है; अतः विद्वान पुरुष उनकी अभिलाषा न करें।'

'इसलिए धन-संग्रह का त्याग करे और उसके त्याग से जो क्लेश हो, उसे धैर्यपूर्वक सह लें। जिनके पास धन का संग्रह है, ऐसा कोई भी मनुष्य उपद्रवरहित नहीं देखा जाता है। अतः धर्मज्ञ पुरुष उसी धन की प्रशंसा करते हैं, जो दैवेच्छा न्यायपूर्वक स्वतः प्राप्त हो गया हो।

'जो धर्म करने के लिए धनोपार्जन की इच्छा करता है, उसका धन की इच्छा न करना ही अच्छा है। कीचड़ लगाकर धोने की अपेक्षा मनुष्यों के लिए उसका स्पर्श न करना ही श्रेष्ठ है।

श्रीरामकृष्णदेव का आविर्भाव-उत्सव

(१) श्रीरामकृष्ण अद्भुतानन्द आश्रम, छपरा (बिहार)

भगवान् श्रीरामकृष्ण देव के १५८वें आविर्भाव दिवस के अवसर पर श्रीरामकृष्ण अद्भुतानन्द आश्रम, छपरा में आयोजित त्रिदिवसीय उत्सव हर्षोल्लास पूर्वक सम्पन्न हुआ। २३ फरवरी को श्रीरामकृष्ण की विशेष पूजा, भजन, कीर्तन आदि आयोजित हुए। भक्तों को श्रीरामकृष्ण विषय पर स्वामी आत्मानन्द जी महाराज के प्रवचन का टेप सुनाया गया। प्राय: ४०० व्यक्तियों ने बैठकर प्रसाद ग्रहण किया।

२४ फरवरी की जनसभा का उद्घाटन करते हुए श्री ए० के० विश्वास, आयुक्त, सारण प्रमंडल ने कहा कि श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द ने दीन-दलितों के उद्धार के लिए भारत में नव चेतना जगायी और सभी धर्मों में एकता का दर्शन करने की प्रेरणा दी। मुख्य वक्ता के रूप में श्री सी० के० मिश्र, जिला पदाधिकारी, सारण ने श्रीरामकृष्ण की प्रासंगिकता पर प्रकाश डाला।

रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, वाराणसी के स्वामी ब्रह्मेशानन्दजी महाराज ने विशिष्ट अतिथि के रूप में प्रवचन देते हुए श्रीरामकृष्ण द्वारा निर्देशित धर्म की विशद विवेचना की और कहा कि जीवन का लक्ष्य ईश्वर या आत्मा का साक्षात्कार करना है। सच्चा धर्म समाज में घृणा का नहीं प्रेम और सहयोग-भाव का संचार करता है। हमें धर्म के मूल रूप को अपनाना चाहिए—बाह्याडम्बरों को नहीं।

आरम्भ में कुमारी दुर्वा राय ने मंगलगीत गाये। श्री शिवाजी राव आयदे अधिवक्ता ने अध्यक्षता की और डॉ० उषा वर्मा ने धन्यवाद ज्ञापन किया। प्रो० श्रीमती मानसी चटर्जी ने समापन गीत प्रस्तुत किया।

२५ फरवरी को स्वामी विवेकानन्द के जीवन और सन्देश विषय पर बोलते हुए स्वामी ब्रह्मेशानन्द ने राष्ट्र-प्रेम, धर्मानुराग और आत्म-विकास के संदेश की बृहत् चर्चा की। उन्होंने कहा कि भौगोलिक सीमा भारत की देह है और करुणा, क्षमा, त्याग, सेवा और प्रेम इस देश के पंच-प्राण हैं।

श्री जे० पी० शर्मा, कुल सचिव, जय प्रकाश विश्वविद्यालय ने स्वामी जी के उपदेशों को उद्धृत करते हुए कहा कि सहस्रमुख से वर्णन करने पर भी स्वामीजी के गुणों को कहा नहीं जा सकता है।

श्री दीपक कुमार, एस० डी० एम० छपरा ने स्वामीजी के मानव प्रेम पर प्रकाश डाला। श्री हरिशंकर प्रसाद अधिवक्ता ने अध्यक्षता की। श्रीराम प्रताप सिंह ने धन्यवाद ज्ञापन किया।

आश्रम के सचिव डॉ० केदारनाथ लाभ ने दोनों दिन अतिथियों का स्वागत किया।

(२) रामकृष्ण मठ, इलाहाबाद

इलाहाबाद। स्थानीय रामकृष्ण मठ में २३ फरवरी को श्रीरामकृष्ण की पावन जन्मतिथि निमित्त विशेष पूजा, हवन, प्रवचन आदि हुए। इस अवसर पर २८ से ३० मार्च तक एक परिसंवाद, ३१ मार्च से २ अप्रैल तक

श्रीरामचरित मानस प्रवचन, ३ से ५ अप्रैल श्रीमद्भावगत प्रवचन का आयोजन हुआ। ४ अप्रैल को साधु सेवा और ११ अप्रैल को नारायण सेवा का भी आयोजन हुआ।

२८ मार्च को श्रीरामकृष्ण दिवस के रूप में मनाया गया जिसकी अध्यक्षता पद्मभूषण श्री त्रिलोकी नाथ चतुर्वेदी, एम० पी० ने की। बक्ता थे बेलुड़ मठ के न्यासी स्वामी वन्दनानन्द जी महाराज, डॉ० केदार नाथ लाभ और इलाहाबाद विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग की प्रवक्ता डॉ शैल पाण्डेय। सब ने श्रीरामकृष्ण के उपदेशों की प्रासंगिकता पर विभिन्न कोणों से विचार प्रस्तुत किये। स्वामी समचित्तानन्द ने मांगलिक गीत और श्री कृष्णानन्द शर्मा ने समापन गीत प्रस्तुत किये। धन्यवाद ज्ञापन माननीय न्याय मूर्ति श्री पलोक बसु ने किया।

२९ मार्च की सभा की अध्यक्षता की इलाहाबाद उच्च न्यायालय के माननीय न्यायमूर्ति श्री पलोक बसु ने। स्वामी वन्दनानन्द जी महाराज, डॉ० केदार नाथ लाभ और डॉ० सुचित्रा मित्रा ने वर्तमान युग में श्रीमाँ सारदा के उपदेशों की प्रासंगिकता विषय पर अपने-अपने चिन्तनपूर्ण विचार प्रस्तुत किये।

मांगलिक गीत (सारदा स्तवन) डॉ० केदार नाथ लाभ एवं समापन गीत श्रीकृष्णानन्द शर्मा ने प्रस्तुत किये। प्रो० जी० एन० राय चौधुरी ने धन्यवाद ज्ञापन किया।

३० मार्च को युगाचार्य स्वामी विवेकानन्द दिवस था। विषय था वर्तमान युग में स्वामी विवेकानन्द के उपदेशों की प्रासंगिकता। इलाहाबाद उच्च न्यायालय के (अवकाश प्राप्त) माननीय न्यायमूर्ति श्री प्रेम शंकर गुप्त ने अध्यक्षता की। वक्ता थे श्रीमत् स्वामी वन्दनानन्द जी महाराज, डॉ० केदारनाथ लाभ और डॉ० (सुश्री) राजलक्ष्मी वर्मा।

मांगलिक गीत स्वामी समचित्तानन्द एवं समापन गीत श्रीकृष्णानन्द शर्मा ने प्रस्तुत किये। धन्यवाद ज्ञापन किया न्यायमूर्ति श्री पालोक बसु ने।

तीनों दिन सभा के आरम्भ में अतिथियों एवं श्रोताओं का स्वागत मठ के अध्यक्ष श्रीमद् स्वामी निखिलात्मानन्द जी महाराज ने किया।

तीनों दिन नगर के प्रमुख प्रबुद्ध नर-नारियों ने उत्कंठापूर्वक सोल्लास सभा में भाग लिया और वक्ताओं के विचारपूर्ण मर्मस्पर्शी व्याख्यानों को तल्लीनता पूर्वक सुना और सराहा।